हिन्दी का मान-मन्दिर

•

लेखक
डा० सत्येन्द्र, ऐम० ए०, पी० ऐच-डी०

•

प्रकाशक
गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा

साहित्य के प्रकाश-स्तम्भ

साहित्य का साहित्यकार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य का पठन-पाठन मानव के ज्ञान-स्रोतों को खोल देता है और भावों तथा रसों के संचार से जीवन को सजीव बनाये रहता है। इसी कारण अनादिकाल से साहित्य का अध्ययन होता आया है और होता रहेगा। तो साहित्य का अध्ययन निश्चय ही उपयोगी और रोचक होता है। किन्तु उस साहित्य के स्रष्टा साहित्यकार के जीवन का अध्ययन साहित्य से भी कुछ अधिक रोचक कहा जाय तो आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए। साहित्यकार के जीवन में हम साहित्यकार के जन्म-मरण के बीच की समस्त भूमि का दर्शन करते हैं। उसके जीवन के उतार-चढ़ावों को देखते हैं, उसके जीवन से उसके युग का क्या सम्बन्ध रहा है इसका भी अध्ययन करते हैं, फिर उन तत्वों को भी हृदयंगम करने का प्रयत्न करते हैं जिनसे उस साहित्यकार की प्रतिभा का निर्माण हुआ है, जो उस साहित्यकार की सृष्टि अथवा कृति में अवतरित हुए हैं और जिन्होंने उसे महान बनाया है। साहित्यकार तो अपनी कल्पना को वाणी देकर साहित्य का निर्माण करता है, किन्तु उस कल्पना का गहरा सम्बन्ध उस साहित्यकार के शरीरी व्यक्तित्व से होता है, जो इस ठोस भूमि पर विविध परिस्थितियों से टकराता चलता है। वह शरीरी व्यक्तित्व कल्पना की वस्तु नहीं, वह तो यथार्थ है। सूरदास के कृष्ण या तुलसी के राम, इन महाकवियों के मानस की देन हैं—सूरदास कृष्ण से और तुलसीदास राम से सहस्रशः वर्ष बाद में उत्पन्न हुए, फिर कृष्ण और राम का इतिहास वे लिख नहीं रहे थे, वे लिख रहे थे काव्य—अतः कृष्ण और राम को सूर-तुलसी की काव्य-

कल्पना का समुचित पोषण मिला है। अतः इनमें कवियों की मानस-सृष्टि विशेष है पर सूर और तुलसी तो शरीरी व्यक्तित्वशाली हैं—इन जैसे महाकवियों की जीवनी का दर्शन उन महानतीर्थों के समान है जिनसे कलिमलनाशक गंगा प्रवाहित होती है। अतः कवि और साहित्यकार का अध्ययन किसी महान मानव के जीवन का भी अध्ययन है जिससे पाठक को अपने जीवन के निर्माण के मार्ग के लिए सामग्री मिल सकती है, और उस परिस्थिति का भी अध्ययन है जो साहित्यकार के जीवन और उसकी कृतियों की पृष्ठभूमि बनती है, जो साहित्यकार की प्रेरणाओं का मूल होती है, और जो उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति के लिए उत्तरदायी होती है, साथ ही जीवन के अध्ययन से उस आध्यात्मिक चेतना का भी पता चलता है, जो साहित्यकार की कृति को महत्व और महानता से अभिमंडित कर देती है। फलतः साहित्यकारों की जीवनी का अध्ययन अत्यन्त उपादेय है। उनके जीवन में से प्रकाश ही नहीं झरता, उनकी रचनाओं का रहस्य भी खुलता है। ऐसे महान् साहित्यकारों से यदि हमारे बालक किशोरावस्था में ही परिचित होने लगें तो उनमें भी उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समा सकता है, और वे अपने जीवन और अपने मानसिक निर्माण के लिए प्रेरणा और भोजन प्राप्त कर सकते हैं। इसी दृष्टि से हिन्दी साहित्य के प्रकाश-स्तम्भ सदृश्य साहित्य-निर्माताओं की लघु जीवनियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

कबीर, जायसी, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, हरिश्चन्द्र, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, जयशंकरप्रसाद, प्रेमचन्द तथा रामचन्द्र शुक्ल, ऐसे ही व्यक्तित्व हैं जिन्होंने साहित्य में युग-प्रवर्तन किया है। ये साहित्य के काश-स्तम्भ हैं।

इस पुस्तक में इन कवियों और लेखकों के जीवन का संक्षिप्त

परिचय दिया गया है, और यह चेष्टा की गयी है कि उनका व्यक्तित्व उभर सके, और उन स्रोतों पर उँगली रखी जा सके जो उनकी साहित्यिक देन के लिए उत्तरदायी हैं। उनके युग की परिस्थिति, और उनके जीवन की घटनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संक्षेप में ही सही, इनका उल्लेख किया गया है। घटनाओं के उपरान्त उनकी कृतियों और उनकी कला की चर्चा भी की गयी है, जिससे उस साहित्यकार की देन का आभास मिल सके। इस प्रकार इन छोटी जीवनियों में साहित्यकार, युग और कृति, तीनों के सम्यक दर्शन की चेष्टा है, और उनके पारस्परिक संबंधों के स्वरूप का भी भली प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है। चेष्टा यह भी की गयी है कि प्रत्येक जीवनी में सजीवता और रोचकता रहे।

आशा है यह पुस्तक साहित्य के प्रथम विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और प्रेरणाप्रद सिद्ध होगी।

—सत्येन्द्र

———

सूची

कबीर

साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाइ।
सार-सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाइ॥

कबीर ने इन शब्दों में मानो अपने स्वभाव का ही परिचय दिया था। कबीर साधु थे, सारग्राही थे। सार और

सत्य में कोई अन्तर नहीं। कबीर सत्याग्रही थे। उनके स्वभाव में सत्य के आग्रह के कारण इतना खरापन था कि असत्य उनके समक्ष ठहर नहीं पाता था। सत्य के बल और तेज ने कबीर को अजेय बना दिया था। उन्होंने अंध-विश्वास और धर्मान्धता के युग में सत्य का ऐसा प्रबल प्रकाश प्रसारित किया कि क्रान्ति उत्पन्न हो गयी—उस युग के विचारों में कबीर की प्रतिभा ने एक भयानक उथल-पुथल मचा दी। कबीर ने सत्य के आसन पर खड़े होकर मिथ्याभिमानियों को ललकारा, उनके ऊँचे सुनहले भवनों को ध्वस्त कर दिया, मलिनता, कलुष, द्रोह

और द्वेष में मोहाविष्ट मनुष्यों को उसने धक्का देकर सचेत करने की चेष्टा की। इसीलिए कबीर महात्मा माने गये, उन्हें सन्त कहा गया, नहीं उन्हें सत्य कबीर तक कह दिया गया। १५ वीं शताब्दी में एक जुलाहे के घर में पालित-पोषित इस छोटे से आदमी ने अपने ज्ञान और उद्योग से ऐसा यश प्राप्त किया कि आधुनिक युग के विश्वकवि रवीन्द्रनाथ को भी उससे प्रभावित होना पड़ा। कौन नहीं जानता कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में इस पन्द्रहवीं शती के संत महाकवि कबीर की प्रेरणा निरन्तर विद्यमान है।

इस महापुरुष का जन्म हुआ, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कर सकता, पर कब जन्म हुआ और कहाँ जन्म हुआ ये दोनों बातें विवादास्पद हैं। एक तो इन्हें सत्पुरुष का अवतार मानकर अजर-अमर कहता है। एक इन्हें सम्वत् १२०५ में[1] पैदा हुआ मानता है, तो एक सम्वत् १४५५ [2] में। इस सम्बन्ध में परशुराम चतुर्वेदी का मत उद्धृत कर हमें सन्तोष करना पड़ेगा :—

"सारांश यह है कि कबीर साहब का जीवन-काल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है और इसी कारण इस विषय में हम अन्तिम निर्णय असंदिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं। तो भी जो कुछ इस प्रश्न को सुलझाने के लिए आज तक

१—सम्वत् बारह सौ पांच में ज्ञानी कियौ विचार।
काशी में परगट भयौ, शब्द कहौ टकसार॥

२—चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

प्रस्तुत किया गया हमारे सामने दीख पड़ता है, उससे इतना स्पष्ट है कि सभी बातों पर पूर्वापर विचार करते हुए, उनके मृत्युकाल को लोग पीछे की जगह कुछ पहले की ओर ही ले जाने के लिए अधिक प्रयत्नशील हैं। हम तो समझते हैं कि उक्त समय का विक्रमीय सम्वत् की सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में रक्खा जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता और इस दृष्टि से संवत् १५०५ भी कदाचित ठीक हो सकता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर कबीर साहब का स्वामी रामानन्द का समकालीन तथा उनके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होना, अपने निराले क्रांतिकारी विचारों की सहायता से संतमत की बुनियाद को सुदृढ़ बना उसे पूर्णबल प्रदान करना, सेना, पीपा, रैदास, धन्ना व कमाल जैसे साधकों को अपने आदर्शों के प्रति पूर्ण रूप से आकृष्ट करना, कुछ पीछे आने वाले जायसी (सम्वत् १५५१: १६४०) जैसे सूफी तथा सूरदास (सम्वत् १५४०: १६२०) एवं मीराबाई (सम्वत् १५५५: १६०३) जैसे कृष्णानुगामी भक्तजनों तक को अपनी विचारधारा के प्रवाह में डाल देना आदि सभी बातें संभव हो सकेंगी। हाँ, कबीर साहब का जन्मकाल उस दशा में परम्परागत सम्वत् १४५५ वा १४५६ से कुछ पहले ले जाना पड़ेगा और वैसी स्थिति आने पर, सम्भव है, उक्त सम्वत् उनके सर्वप्रथम प्रबुद्ध होने का ही समय समझा जाने लगे। उनके 'काशी आने' 'काशी में प्रकट होने' अथवा 'सत्पुरुष के तेज के गमन से लहरतारा में उतरने' आदि का तात्पर्य तब वही होगा जो उनके प्राथमिक जीवन का कायापलट होकर उनके एक नितांत नवीन जीवन प्राप्त करने का हो सकता है। जिसकी ओर उनके 'गुरुदेव', 'परचा', 'उपजणि' आदि अंगों

के अन्तर्गत आनेवाली कतिपय साखियों द्वारा कुछ संकेत भी हमें मिलते हैं। यदि अनंतदास की 'परचई' प्रामाणिक मान ली जाय और उसके लेखक का एतत्सम्बन्धी कथन भी सत्य निकल आवे, तो इस विषय में, "तीस बरस तैं चेतन भयौ" के सहारे हम उनके जन्मकाल के लिए भी सम्वत् १४५५-३० = संवत् १४२५ दे सकेंगे और वैसा होने पर कबीर साहब मैथिल कवि विद्यापति (सम्वत् १४१७: १५०५) के समसामयिक हो जायँगे। ऐसी दशा में सम्भवतः इस जनश्रुति की भी पुष्टि होती हुई दीख पड़ेगी कि आसाम के प्रसिद्ध भक्त शंकरदेव (सम्वत् १५०६: १६२५) ने अपनी उत्तरी भारत की द्वादशवर्षीय तीर्थयात्रा (सम्वत् १५४०: १५५२) के अवसर पर कबीर साहब की समाधि के भी दर्शन किए थे।[1]

जन्म-तिथि की भाँति ही जन्म-स्थान के विषय में काशी और मगहर को लेकर विवाद है। विदित यह होता है कि कबीरदास काशी में ही पैदा हुए।

कबीर की रचनाओं में उनके अपने जीवन के सम्बन्ध में आन्तरिक साक्षी के रूप में कुछ न कुछ सामग्री मिल ही जाती है। ऐसे उल्लेख यथार्थतः प्रमाण अथवा स्पष्टीकरण और उदाहरण प्रस्तुत करने की शैली में मिलते हैं। इनके आधार पर कबीर के जीवन का चित्र अंकित करते समय सबसे पहली बात तो यह विदित होती है कि कबीर जुलाहा थे। उन्होंने एक ही स्थल पर नहीं वरन् कई स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया है कि वे जुलाहा हैं। कहीं उन्होंने लिखा है :—

१—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृष्ठ ७३२-३३.

तू बांभन मैं कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गिआवा

या

जात जुलाहा मति कौ धीरे, हरिषि हरिषि गुण रमै कबीर।

या

जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी।

तो कहीं लिखा है :—

तननां बुननां तज्या कबीर राम नांम लिख लिया सरीर।

तो कबीर की निजी साची से इनका जुलाहा होना तो सिद्ध है। पर विवादास्पद विषय यह उपस्थित होता है कि ये मुसलमान जुलाहा थे या हिन्दू। कबीर ने कहीं-कहीं अपने लिए कोरी शब्द का भी उपयोग किया है।

हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी।

अथवा

कोरी कौ काहू मरम न जाना। सब जग आन तनायौ ताना॥
कहत कबीर कारगह तोरी। सूते सूत मिलाये कोरी॥

कबीर यदि कोरी होंगे तो हिन्दू माने जायेंगे! इस कोरी और जुलाहा की सन्धि बैठाने के लिए एक कल्पना यह की गयी कि कबीर पहले कोरी हिन्दू थे, फिर मुसलमान हुए तो इनका कुटुम्ब जुलाहा कहलाया। किन्तु इस मत को मान्यता नहीं मिली। कबीर के सम्बन्ध में उन्हीं के समकालीन पीपा तथा रैदास भक्तों ने कहा है :—

'जाकें ईद बकरीद नित गऊ रे बध करैं मानिये सेष सहीद पीरां'

जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का जन्म मुसलमान कुल में हुआ था। वे जन्म से मुसलमान थे। इस

मत की प्रतिष्ठा करने वाले कबीर के मत की समीक्षा करते हुए उसमें कुरान से साम्य दिखाते हैं। इनका कहना है कि यह साम्य आकस्मिक नहीं कबीर के गहरे मुसलमानी संस्कारों तथा आस्थाओं के कारण है। उधर कबीर की ही साक्षी से यह विदित होता है कि वे स्पष्ट कहते हैं कि मैं न हिन्दू हूँ और न मुसलमान। इसके उत्तर में इन्हें मुसलमान मानने वाले कहते हैं कि कबीर जन्म से मुसलमान होते हुए भी जिन्दीक अथवा जिन्द थे। कबीर ने लिखा है :—

कहै कबीर हमारे गोव्यंद, चौथे पद में जन का ज्यंद।

यह ज्यन्द जिन्द या जिन्दीक है। जिन्दीक सूफ़ी होते हैं। अतः कबीर हिन्दू तो जन्म से ही नहीं थे मुसलमान भी वे कट्टर नहीं थे। पर दूसरे शोधक कहते हैं कि कबीर की अन्तर्साक्षी कुछ और ही भेद खोलती है। उनका कथन है कि कबीर की वाणियों में नाथ पन्थी सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट है, वह बहुत गहरा है। बिना नाथ पन्थी सिद्धान्तों को समझे यथार्थ में कबीर की वाणियों को समझ सकना भी सम्भव नहीं। इनके विचार से कबीर उस वयनजीवी जुलाहा जाति में पैदा हुए थे जो बौद्ध धर्म के ह्रास काल के अवशेषों में थी और जिस पर नाथ पन्थी योगियों का गहरा प्रभाव था। यह जाति कमीन समझी जाती थी। कबीरदास ने लिखा है :—

आइ हमारे कहा करौगो हमतौ जाति कमीना।

यही कारण है कि कबीर में हठ योग के प्रति इतना विश्वास है और नाथ पन्थ के सिद्धान्तों से इतना साम्य। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि कबीर का व्यक्तित्व जटिल था। एक ओर वे मुसलमानी धर्म और उसके विश्वासों

से परिचित थे पर जिन्दीक थे, उदार दृष्टि वाले सूफी। दूसरी ओर वे नाथ पन्थियों, योगियों के सिद्धान्तों पर भी गहरा विश्वास रखते थे और उनके गूढ़ अभिप्राय इनकी वाणी में समाविष्ट हैं। किन्तु केवल यहीं यह जटिलता नहीं समाप्त हो जाती। सूफी और नाथ पन्थी जोगी कबीर को वैष्णव कबीर ने आच्छादित कर लिया है। यद्यपि कबीर ने यह बताया है कि :—

तेहि साहिब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटि के रहहु सनाथा।
ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव सतावा॥

(कबीर बीजक)

फिर भी उनका 'राम' वैष्णव शब्द है जो अपने अनेक पर्यायवाचियों के साथ कबीर की वाणी में पूर्णतः व्याप्त है। कभी-कभी तो वे विष्णु के अवतार में भी आस्था रखते हुए विदित होते हैं, यथा :—

तब काढ़ि खड्ग कोप्यौ रिसाइ
तोहि राखनहारौ मोहि बताइ
महा पुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियौ भगति भेव
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहलाद उबार्यौ अनेक बार।

फिर भी ऐसा विश्वास भले ही अपवाद स्वरूप हो वैष्णव सम्प्रदाय का जादू तो सिद्ध करता ही है। यों भी कबीर को वैष्णवों से प्रेम है और शाक्तों से घृणा।

साकत मरें सन्त जन जीवें
भरि भरि राम रसायन पीवें!

तथा

वैस्नों की छतरी भली
ना साकत बड़ गाँव।

अथवा

साकत ब्राह्मण यति मिलै
वैस्नों मिलै चंडाल।

तो यह विदित होता है कि उक्त मुसलमानी धर्म में परिणति प्राप्त नाथ पन्थी जुलाहा जोगी कुल में जन्म लेकर कबीरदास वैष्णव हुए। वैष्णव होने की बात किम्वदन्ती से ही नहीं कबीर के प्रमाण से भी सिद्ध है। कबीर ने बताया है कि—

कासी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये॥

कबीरदास रामानन्द के शिष्य हुए और राम का नाम जपने लगे। कबीरदास के इस धर्माचरण से घर में माँ से क्लेश खड़ा हो गया प्रतीत होता है और इसका उल्लेख कबीर ने अपनी भक्ति की दृढ़ता के प्रमाण में किया है। गुरु ग्रन्थ साहब में आये कबीर के एक पद में लिखा है।

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई
ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई
तनना बुनना साहु तजिओ कबीर
हरि को नाम लिख लियो सरीर।

जब लग भरों नली का वेह
तब लग टूटै राम सनेह
ठाढ़ी रोवै कबीर की माय
ए लरिका क्यूं जीवै खुदाइ
कहै कबीर सुनहुँ री माई।
पूरण हारा त्रिभुवन राई॥

कबीर की माँ को पुत्र के लक्षणों से यह विदित हो रहा

था कि यह भूखों मर जायगा। एक अन्य स्थान पर और ऐसा ही प्रसंग है :—

निति उठि कोरी गागरि आनै लीपत जीउ गइओ।
ताना बाना कछु न सूझै हरि हरि रस लपटियो॥

हमारे कुल कौने राम कहियो
जब की माला लई निपूते तब ते सुखु न भइयो।

कबीर ताना बाना छोड़ कर राम नाम जपने में संलग्न हो गये। उस राम नाम जपने में जो कबीर के कुल में कभी नहीं जपा गया था। इस जप के समय से ही कबीर के घर में दुःख ने डेरा डाला और सुख चला गया। कबीर ने दुख चाहा भी था।

सुख के माथे सिल पड़े नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय॥

कबीर ऐसे दारिद्र्य और दुःखपूर्ण परिस्थितियों में रहते हुए भी राम-भक्ति में अटल थे। माँ तो इनसे दुखी थी ही इनकी स्त्री भी इनसे प्रसन्न नहीं प्रतीत होती। क्योंकि एक पद में कबीर ने माँ के वचनों को यों उपस्थित किया है :—

मेरी बहुरिया का धनियाँ नाम।
लै राखौ राम जनियाँ राम॥
इन मुडियन मेरा घर धुँधरावा।
बिटवहिं राम रमउवा लागा॥

मा के दुःख पर कबीर ने यह आश्वासन उसे दिया—

कहत कबीर सुनो मेरी माई
इन मुँडियन मेरी जात गँवाई॥

माँ को पुत्र के राम-भक्त होने का ही दुःख नहीं अपनी पुत्र-बधू के रामजनियाँ हो जाने का भी खेद है। रामजनियाँ को व्यावहारिक भाषा की रामजनी मानकर प्रियादास की 'भक्तमाल' की टीका में कबीर के विषय में आये—

"बारमुखी लई संग"

से संगति भिड़ाने पर कबीर की स्त्री में वेश्यात्व के आरोप की कल्पना भी की जा सकती है। पर कबीर की माता को तो राम शब्द के कारण क्षोभ है। उक्त पद में कबीर की स्त्री का नाम धनियाँ लिखा गया है। पर कबीर के पदों में आये लोई सम्बोधन से प्रचलित किम्बदन्ती को जोड़ देने पर यह विदित होता है कि कबीरदास की स्त्री का नाम लोई भी था। यह लोई स्त्री भी कबीर की माता की भाँति कबीर से असन्तुष्ट थी। कबीर ने लोई की आपत्ति और अपना उत्तर निम्न पद में दिया है:—

टूटे तागे निखुटी पानि। दुआर ऊबरी झिलकाबहि कान।
कूच विचारे फूए फाल। इहा मुंडिया सिर चलिवौ काल॥
इहु मुंडिया से भलो द्रव खोई। आवत जात नाक सर होई।
तुरी नारी की छोड़ी बाता। राम नाम वाका मनु राता॥
लरको लरिकन खैवो नाहिं। मुंडिया अनुदिन धाये जाहिं।
सुनि अंधली लोई बेपीर। इन्हि मुंडीअन भजि सरन कबीर॥

इस पद में लरकी लरकिन और लोई शब्द ध्यान देने योग्य हैं। कबीर ने विवाह ही नहीं किया था, उनके सन्तान भी थी। यह प्रसिद्ध है कि कबीर ने अपने पुत्र की सम्पत्ति-परिग्रह वृत्ति को देख कर कहा था—

बूड़ा बंस कबीर का उपज्यौ पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़ि के घर भर लाया माल।

इस विवरण से कबीर के व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू स्पष्ट होता है। एक ओर जहाँ कबीर आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपलब्धियों में संलग्न थे वहाँ दूसरी ओर गृहस्थी के संघर्ष को भी मस्ती के साथ झेल रहे थे। घर के व्यवसाय को इन्होंने छोड़ नहीं दिया था पर वह हरि-चर्चा के आधिक्य के कारण अस्थिर बहुत हो गया था। इससे एक ओर आर्थिक कठिनाई वैसे ही बढ़ रही थी वहाँ दूसरी ओर सन्तों के आगमन से उनके सत्कार में भी दरिद्रता की वृद्धि हो रही थी। घर के बालक भले ही भूखे रहें पर सन्तों का सत्कार तो होना ही चाहिये। कबीर की साखियों में अपरिग्रह का प्रबल पोषण किया गया है।

साधु गाँठ न बाँधई पेट समाता लेय।
सांई के सम्मुख रहे जहँ माँगै तहँ देय॥
जो जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये यह सज्जन कौ काम॥

और यह प्रतीत होता है कि कबीर इसी अपरिग्रह के सिद्धान्त के अनुसार अपने साईं पर पूरा भरोसा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु कबीर को सबसे अधिक दुःख तथा वेदना अपने अन्त समय में हुई विदित होती है।

ज्यों जल छोड़ि बाहर भयो मीना।
पूरब जनम हों तप का कीना॥
अब कहु राम कवन गति मोरी।
तजीले बनारस मति भई थोरी॥

सकल जनम सिवपुरी गँवाया।
मरती बार मगहर उठि आया॥
बहुत वर्ष तप कीया कासी।
मरन चला मगहर को वासी॥
कासी मगहर सम कबीचारी।
ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥
कहु गुरु भज सिब सबको जानै।
मुआ कबीर रमत श्री रामै॥

इस पद से विदित होता है कि कबीर को काशी बहुत प्रिय थी। उनका प्रायः समस्त जीवन काशी में ही बीता। अन्त समय में बहुत दुख के साथ उन्हें अपनी प्रिय कासी छोड़ कर मगहर जाना पड़ा। मगहर क्यों जाना पड़ा इस विषय में कबीर की साखियों से ही दो प्रकार का समाधान उपस्थित होता है। एक तो कबीर के वे पद हैं जो कहते हैं कि—

जो कासी तन तजै कबीरा तहु रामहि कौन निहोरा।

तथा

चरण विरद काशी कौ न देहुँ। कहँ कबीर भल नरकहिं लेहुँ॥

इन पदों से यह प्रकट होता है कि कबीर ने कासी इसलिए त्यागी कि ये सिद्ध करना चाहते थे कि भगवान के भरोसे रहने वाला व्यक्ति, निरंजन में रमने वाला व्यक्ति काशी से बाहर भी यदि अपने प्राण त्यागेगा तो भी उसे राम का धाम मिलेगा अथवा यह भाव भी हो सकता है कि काशी में मरने से तो मुक्ति मिल ही जायगी, काशी के बाहर मरने पर ही राम का भरोसा किया जा सकता है। वे अन्त समय में भी राम की भक्ति के आधार को नहीं त्यागना

चाहते थे। भक्त कबीर में तो ऐसा अनन्य भाव हो सकता है पर कबीर तो भक्ति से भी अधिक बुद्धि-विश्वासी अध्यात्मवादी थे। वे केवल राम का भरोसा सिद्ध करने के लिए अपनी प्यारी काशी क्यों छोड़ते। अतः दूसरा समाधान इस काशी-त्याग तथा मगहर-वास के लिए ऐतिहासिक कारण का अनुसन्धान करता है। उसके समक्ष कबीर का यह पद आता है।

कहा अपराध सन्त हौं कीन्हा, बाँधि पोट कुंजर कूँ दीन्हा।
कुंजर पोट बहु बन्दन करै अजहू न सूझै काजी अँधरै।
तीनि बेर पतियारा लीन्हा मन कठोर अजहू न पतीन्हा।
कहै कबीर हमारे गव्यन्द, चौथे पद में जन का ज्यंद॥

इस पद से यह अभिव्यक्त होता है कि किसी काजी ने कबीर के हाथ पैर बँधवा कर हाथी के पैर के नीचे डलवा दिया था। हाथी को जब रौंदने के लिए प्रेरित किया गया तो उसने पोटली बँधे कबीर को प्रणाम तो किया पर कुचला नहीं। काजी के तीनों प्रयत्न व्यर्थ गये।

कबीर के सम्बन्ध में ही इस अलौकिक घटना का उल्लेख मिलता है। इसमें कबीर के विरुद्ध सिकन्दर लोदी की आज्ञा से किये गये दुर्व्यवहार का उल्लेख मिलता है। इसी संकेत के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सिकन्दर लोदी के अत्याचारों से पीड़ित होकर कबीर को काशी छोड़नी पड़ी। मगहर एक सुरक्षित स्थान था। वहाँ कबीर ने शरण ली और वहीं इनकी मृत्यु हुई। कबीर के इस जीवन परिचय से कबीर के महान् व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है। किन कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए कबीर ने सत्य-शोध में प्रवृत्ति दिखायी और जिस सत्य को उन्होंने पाया

उसको किस निर्भीकता से डंके की चोट सबको सुनाया। उसका कुछ ज्ञान हमें कबीर के शब्दों से हो जाता है। कबीर का यह प्रबल व्यक्तित्व उनकी अन्तरात्मा के व्यग्र, सत्य अनुसन्धान-जिज्ञासा पर निर्भर करता है। सत्य के स्वरूप का निर्णय करने से पूर्व कबीर स्थान-स्थान पर धर्म के प्रमुख स्थानों पर गये थे। बुद्ध की भाँति वन-वन घूमे थे।

"जाति जुलाहा नाम कबीरा वन-वन फिरै उदासी।"

उदासी होकर ही नहीं, सम्भवतः कबीर उपासी होकर भी जहाँ-तहाँ गये। इन स्थानों में से कुछ का वर्णन स्वयं कबीर ने किया है।

मानिक पुरहि कबीर बसेरी
मद्दति सुनी सेख तकी केरी।
ऊ जे सुनी जौनपुर थाना
झूँसी सुनि पीरन को नामा।
इकइस पीर लिखे तेहि ठामा
खतमा पढ़ैं पैगम्बर नामा।

कबीर की यह यात्रा धर्म के सच्चे स्वरूप की शोध के लिए भी हो सकती है और सतगुरु की शोध के लिए भी। कबीर की रचनाओं से यह स्पष्ट झलकता है कि उन्हें शेख तकी आदि सूफियों में कोई श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। शेख तकी को तो वे स्वयं उपदेश देते मिलते हैं।

यह कबीर का वह जीवन वृत्त है जो हमें उनकी अपनी अन्तर्साक्षी, उनकी रचनाओं में आये प्रसंगों से ज्ञात होता है। पर इस वस्तु के चारों ओर एक अद्भुत कथा का ताना-बाना पूर दिया गया है और कवि का जीवन-वृत्त अलौकिक

तथा अद्भुत हो गया है। कबीर ने अनुभूति को ही महत्व दिया है। उन्होंने कहा है—

मैं कहता आँखों की देखी।

भले ही वह वेद हो अथवा कुरान भी हो। शास्त्र या सूफियों का ही विरोध किया। उन्होंने बताया है कि मैंने मसि कागद तो छुओ नाहीं, फिर भी उनकी रची कितनी पुस्तकें मिलती हैं। ये रचनायें सभी कबीर की नहीं। कबीर ने साखी दोहों में लिखी हैं, रमैनी बीजक आदि पदों में। बीजक को विशेष प्रामाणिक माना जाता है। इस जीवन-परिचय से हमें यह ज्ञान होता है कि कबीर का किसी भी धर्म का कैसा ही ज्ञान हो, वह इतना गहरा नहीं था और न इतना शास्त्रीय था; जितना कोई-कोई विद्वान् सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। उनकी यथार्थ भूमि लोक-वार्ता की भूमि थी। जिसमें सभी धर्मों का साधारणीकरण हो जाता है। उस भूमि पर कबीर ने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति से मानव के आत्म-कल्याण का आध्यात्मिक दर्शन प्रस्तुत किया।

इस कवि के मरण की तिथि विवादास्पद रही है। किन्तु साधारणतः सं० १५७५ में इनकी मृत्यु मानी जा सकती है।

कबीर के काव्य में उनके सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके सिद्धान्तों पर बहुत संक्षेप में यहाँ चर्चा कर लेनी चाहिए।

सन्त—कबीरदास सन्त थे, और सन्त मत के प्रवर्त्तक थे। संत को इन्होंने सूप की भाँति 'सार-ग्राही' माना है। "सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय"—थोथी माया है, इसे त्याग देना चाहिये; थोथा है धार्मिक आडम्बर और पाखंड,

उसे त्याग देना चाहिये। सार वस्तु है 'राम' नाम जिसे सतगुरु की कृपा से पाया जा सकता है।

गुरु—संत को निगुरा नहीं होना चाहिये। गुरु गोविन्द से भी बड़ा है, क्योंकि वही गोविन्द का ज्ञान कराता है, अतः गुरु को रुष्ट मत होने दो। बिना गुरु के सार वस्तु नहीं मिल सकती।

राम—'राम' से अभिप्राय उस रामचन्द्र से नहीं जो दशरथ के घर पैदा हुए। यह राम तो गोविन्द अथवा ब्रह्म का नाम है। यह राम परम तत्व है।

माया—माया ठगिनी है। उससे बचना चाहिये। वह मन को बहिर्मुख करती है।

परम तत्व—परम तत्व सत्य है, और कबीरदास के मत से यह सत्य निगुण और सगुण से परे है। वह इन दोनों में भी है—"गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है" और इन दोनों से परे भी है। यह घट-घट में ऐसे ही व्याप्त है जैसे पुष्पों में सुगन्ध। वह एक है।

योग—इस परम तत्व सत्य को प्राप्त करना ही सन्त का परम ध्येय है। इसे वह योग द्वारा पा सकता है। योग की क्रियाओं में कबीरदास को विश्वास है, किन्तु साथ ही वे 'सुरति योग' का निर्देश करते हैं मन को बाहर जाने से रोक कर अन्तर्मुख कर दिया जाय, तो निर्मल जीव उस परम तत्व से साक्षात्कार कर सकता है—इस प्रकार के साक्षात्कार की प्रवृत्ति 'सुरति' है, इसमें जीव बाहरी कलुषों से मुक्त होकर अपने निर्मल स्वरूप में व्याप्त परम तत्व का प्रकाश देखता है और इस अनुभूति में मग्न होने की स्थिति को 'सहज समाधि' कहते हैं।

भक्ति—'सुरति'-योग गुरु के निर्देश से मिलता है, पर इसके लिये भक्ति अनिवार्य है, भक्ति से ही योग की सामर्थ्य आती है। राम नाम का स्मरण भी भक्ति का एक रूप है।

शील—कबीर ने इस सबके लिये संत-स्वभाव को आवश्यक माना है, जिससे मन और शरीर दोनों का शील ठीक रहे।

कबीर साहब ज्ञानमार्गी निर्गुणवादी थे। आपने कहा है कि ईश्वर में सब शक्तियाँ हैं, और वह सभी कुछ कर सकता है, किन्तु बन्दा (आदमी) नहीं कर सकता। कबीर ने उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आदि माना है, और एकेश्वरवाद पर बहुत बड़ा जोर दिया है। "सैना बैना" से 'गूँगे के गुड़' की भाँति समझाने में आपने शून्य, ज्योति, और शब्द या अनहदनाद, इन तीन बातों पर विशेष जोर दिया है।

कबीरदास जी के समय तक मुसलमानों को भारतवर्ष में रहते कई शताब्दियाँ हो चुकी थीं। वे भारत के ही निवासी हो गये थे। फिर भी उनमें तथा हिन्दुओं में संघर्ष था और वे परस्पर साम्प्रदायिक बातों पर लड़ते थे। कबीरदास ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के धर्मों को भूल से भरा हुआ बताया है:—

> इन दोउन राह न पाई,
> हिन्दुन की हिंदुआई देखी तुरकन की तुरकाई।

उनका विरोध बाहरी आडम्बरों से था। वे यह मानते थे कि परम तत्व दोनों का एक है, राम-रहीम में कोई अन्तर नहीं। राम-रहीम ही सार वस्तु है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने की भी चेष्टा की है।

कबीर के काव्य के दो पहलू हैं। एक ओर वे आलोचक और खण्डनकर्त्ता हैं। वह देव पूजा, अवतारवाद, मूर्तिपूजा,

मन्दिर-मस्जिद, माला, तिलक-छाप, गेरुए वस्त्र, मूँड़-मुड़ान तथा अन्य बाहरी बातों का कटुतापूर्वक विरोध करते हैं। साथ ही आचरण की सौम्यता की नीति भी बताते हैं। दूसरी ओर वे आध्यात्मिक सत्य का प्रतिपादन भी करते हैं, उसको प्राप्त करने के मार्ग का भी निर्देश करते हैं, और उनकी ऐसी ही अभिव्यक्तियों में परम तत्व के साक्षात्कार की झाँकी भी प्रस्तुत हो जाती है। ऐसे स्थलों पर ही कबीर में रहस्यवाद आ जाता है। वे इस प्रत्यक्ष जगत से परे किसी दिव्य सत्ता के दर्शन करते और उस पर आनन्द-विभोर होते मिलते हैं।

कबीरदास ने इसी रहस्य को प्रगट करने अथवा उसे प्राप्त करने के मार्ग का निर्देश करने के लिये कभी-कभी 'उलटबांसियों' की रचना की है। उलटबाँसियों में उलटी बातें कही जाती हैं, और उनसे कोई रहस्य की बात प्रकट की जाती है। जैसे 'पानी बिच मीन पियासी'—यह उलटी बात लगती है, पर अर्थ इसका होता है ब्रह्म की सार्वभौम सत्ता में जीव निरन्तर रहता है, फिर भी उसे जानता नहीं, और उसकी खोज में परेशान है।

कबीर में काव्य की स्वाभाविक प्रतिभा थी, उन्होंने उस काव्य-प्रतिभा को आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर लगा दिया था। कुछ लोग कबीर में काव्य-प्रतिभा नहीं मानते। वे काव्य-शास्त्र के पंडित नहीं थे, पर उनकी रचनाओं में स्वभावतः काव्य के गुण, रस और अलंकार आ गये हैं। उनकी सखियों में हमें नीति-प्रणाली के दोहे मिलते हैं, उनकी रमैनियों में हमें 'पद'—गेय पद मिलते हैं। इनमें ब्रह्म और आत्मा के मिलने के अच्छे शृङ्गार-सिक्त वियोग और संयोग सम्बन्धी

भाव मिलते हैं। काव्यालंकारों का उपयोग भी उनकी कविता में स्वाभाविक हुआ है, पांडित्य की दृष्टि से नहीं।

कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कह सकते हैं जिसमें पूर्वी-पश्चिमी सभी प्रयोग मिलते हैं। पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी का भी प्रभाव दिखायी पड़ता है। वैसे भाषा प्रसाद गुण पूर्ण है।

मलिक मुहम्मद जायसी

कबीर की ज्ञानवादी निर्गुण परंपरा के बाद जिस प्रेम-गाथा की परम्परा का आरम्भ हुआ, उसका वास्तविक प्रवर्त्तक मलिक मुहम्मद जायसी था। प्रेम की पीर का संदेश इसने दिया और सूर और तुलसी की भक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

मलिक मुहम्मद जायसी की जन्मतिथि का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है। हिन्दी के कुछ अन्य कवियों की भाँति इस विषय में जायसी बिल्कुल मौन तो नहीं हैं। उन्होंने 'आखिरी कलाम' नामक पुस्तक में लिखा है—

> "भा औतार मोर नौ सदी।
> तीस बरस ऊपर कवि बदी॥"

किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यह कठिनाई इसलिए विशेष बढ़ जाती है कि जायसी की सभी पुस्तकें फारसी लिपि में लिखी हुई मिली हैं, इससे पाठ की ठीक जानकारी नहीं हो सकती। फिर भी उक्त चरण के आधार पर यह अर्थ लगाया जा सकता है कि "मेरा जन्म नवीं सदी में हुआ और तीस वर्ष होने पर मैं कवि मान लिया गया।" यहाँ नवीं सदी ९०० हिजरी माननी होगी। इस हिसाब से जायसी का जन्म सन् ११९२ के लगभग ठहरेगा। इस वर्ष जायसी का जन्म मानने से कई कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे कवि ने पद्मावत् में लिखा है:—

"सन् नव से सत्ताइस अहा।
कथा - आरम्भ - बैन कवि कहा॥"

पद्मावत ६२७ हिजरी में आरम्भ हुई। उस समय वे २७ वर्ष के ही रहे होंगे। फिर 'तीस बरस ऊपर कवि बदी' का अर्थ कैसे लगेगा? अनुमान से यह कहा जा सकता है कि कवि ने ६२७ हिजरी में कविता लिखना आरम्भ किया होगा। और उनकी पहली रचना पद्मावत ही होगी। तीन वर्ष में उन्होंने कवि होने की ख्याति प्राप्त करली होगी। पद्मावत आरम्भ करके कवि ने छोड़ दिया होगा, बीच में "आखिरी कलाम" नाम की पुस्तक लिखी होगी, क्योंकि "आखिरी कलाम" में बाबर को बादशाह बतलाया गया है।

"बाबर शाह छत्रपति राजा।
राजपाट उन कहँ विधि साजा॥"

इसकी पुष्टि इसी पुस्तक में दिये हुए इस रचना-काल से भी हो जाती है :—

"नौ सै बरस छतीस जो भये।
तब एहि कथा के आखर कहे॥"

६३६ हिजरी में "आखिरी कलाम" लिखा गया। उस समय जायसी ३६ वर्ष के हुए। फिर 'पद्मावत' पूरा किया, क्योंकि पद्मावत में 'शाहे वक्त' उस काल के बादशाह 'शेर-शाह' का उल्लेख है :—

'शेरशाह देहली—सुलतानू।
चारिउ खण्ड तपै जस भानू॥'

❀ ❀ ❀ ❀

'जाति सूर और खण्डे सूरा।
औ बुधि–वंत सवै गुन पूरा॥'

शेरशाह का शासन-काल ६४७ हिजरी से आरम्भ हुआ। अतः पद्मावत शेरशाह के शासन में लिखा होगा। उसमें शेरशाह के शौर्य और प्रताप का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है:—

वरनौ सूर भूमि - पति राजा,
भूमि न भार सहै जिन्हि राजा।
जो गढ़ नएउ न काहुहि, चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमिपति, सेरसाहि जग सूर॥
गऊ सिंह रेंगहि एक बाटा।
दूनौ पानि पियहिं एक घाटा॥"

किन्तु यह कठिनाई अब नहीं रहीं। गंभीर दृष्टि से पाठ पर ध्यान देकर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पद्मावत का यह पाठ 'सन् नवसौ सत्ताइस" नहीं है, 'सन नवसौ सैंतालिस है। यह पाठ ही विशेष मान्य प्रतीत होता है, इससे ऊपर जिन कठिनाइयों का उल्लेख किया गया है, वे नहीं रहती। ६४७ में पद्मावत लिखा गया। इसी सन् में शेर-शाह का राज्य स्थापित हुआ। जायसी का जन्म ६०० हिजरी भी अब ठीक प्रतीत होता है।

किन्तु यहाँ एक अड़चन उपस्थित होती है। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्यु-काल ४ रजब ६४६ हिजरी दिया है। यदि उसे ठीक मानलिया जाय तो जायसी की मृत्यु ४६ वर्ष की अवस्था में हुई, इस समय शेरशाह को राज्य करते दूसरा वर्ष होगा।

दूसरे वर्ष में उसका वैसा प्रताप संभव नहीं जैसा जायसी ने लिखा है। और न यही संभव है कि इसी वर्ष पद्मावत समाप्त करली हो। इसकी संगति पद्मावत के उपसंहार में वर्णित वृद्धावस्था से तो किसी भी प्रकार नहीं बैठती। पद्मावत के अन्त में जायसी ने कहा है:—

मुहम्मद विरिध वैस जो भई।
जौवन हुत, सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दृष्टि गई नैनहिं देइ नीरू॥
दसन गए कै पचा कपोला।
बैन गए अनरुच देइ बोला॥

४६ वर्ष की अवस्था में ऐसी दशा किसी भी व्यक्ति की नहीं हो सकती। अतएव जब तक कोई अन्य अत्यन्त प्रमाणित साक्षी नहीं मिलती, यह मृत्यु समय की विषमता ऐसी ही बनी रहेगी।

निवास-स्थान—इस सम्बन्ध में जायसी ने पद्मावत में लिखा है:—

"जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आय कवि कीन्ह बखानू॥"

और "आखिरी कलाम" में उल्लेख है कि :—

"जायस नगर मोर अस्थानू।
नगर के नाँव आदि उदयानू॥
तहाँ दिवस दस पहुने आएउँ।
भा वैराग बहुत सुख पाएउँ॥"

इन उल्लेखों से यह विदित होता है कि जायसी "जायस"

के रहने वाले थे, उन्होंने वहीं रहकर काव्य-रचना की, किन्तु साथ ही यह भी सूचित होता है कि वे वहाँ कहीं से आकर बसे थे, "तहाँ आय" शब्दों से यही अर्थ निकल सकता है। "आखिरी कलाम" से यह भी प्रकट होता है कि वे वहाँ दस दिन के लिए महमान होकर आये थे, किन्तु वहाँ सत्संग का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे वहीं रम गये; उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिससे वे बड़े सुखी हुए। यह सत्संग उन चार मित्रों का हो सकता है जो जायस में मिले थे, जिनके साथ रह कर जायसी की वही दशा हुई थी जो अन्य वृक्ष की चन्दन के वृक्षों के पास रहने से होती है:—

"विरछ होय जौ चन्दन पासा।
चन्दन होइ वेधि तेहिं बासा॥"

इन मित्रों के नाम हैं: यूसुफ मलिक, सालार कादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख।

जायस में उन्हें सूफी फकीरों का सम्पर्क मिला, और वे उनके शिष्य हो गये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी २५-२६ की अवस्था तक कहीं और थे, वहाँ से जायस आये और वहीं रम गये। किन्तु जायस में प्रचलित मान्यता के आधार पर शुक्लजी ने कहा है कि जायसी जन्म से जायस के थे। यद्यपि उन्होंने उस जनश्रुति का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार अमेठी के राजा इनके बारहमासे को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए थे और इन्हें आग्रह पूर्वक जायस में रखा था। तभी से ये जायस में रहने लगे। उनके चारों मित्रों की जन्मभूमि भी जायस ही थी। यदि यह मत मान लिया जाय तो जायसी के अपने कथनों का अर्थ लाक्षणिक दृष्टि से लगाना होगा। "तहाँ आय" और "तहाँ दिवस दस पहुने

आएउँ" का अर्थ करना होगा "जन्म लिया", कुछ "काल के लिए जायस में आकर जन्म ग्रहण किया"—"दस दिन के मेहमान" होना मुहावरा की भाँति माना जा सकता है। प्रश्न केवल यही उठता है कि "जायसी" यदि जन्म से ही जायस के निवासी नहीं थे तो उन्होंने अपने पहले के निवास-स्थान अथवा जन्मभूमि का नाम क्यों नहीं दिया ? यदि वे जायस के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र पैदा हुए होते तो उसका भी नाम अवश्य देते। किसी अन्य स्थान के नाम का उल्लेख न होने से भी यह माना जा सकता है कि वे जायस के ही रहने वाले थे, वहाँ आकर बसे नहीं थे। इस सम्बन्ध में भी यथार्थतः किसी अन्तिम निश्चय पर पहुँचने से पूर्व अन्य प्रामाणिक साक्षियों की आवश्यकता है। जायसी की कब्र अमेठी राज्य में बनी हुई है। जायसी के विषय में यह कहा जाता है कि सात वर्ष की अवस्था में इनके शरीर में माता (शीतला) का प्रकोप हुआ। इनकी माता ने मकनपुर के मदार शाह के दर्शन की मनौती की। माता तो मर गयीं, जायसी बच गये, पर इनकी बाईं आँख फूट गयी। कवि ने बताया है : 'एक नयन कवि मुहम्मद गुनी' तथा 'मुहम्मद बाईं दिसि तजा एक सरवन एक आँखि'। इससे इनके एक कान के मारे जाने का भी पता चलता है। अब जायसी के मुख की शोभा का अनुमान लगाया जा सकता है। चेचक के दागों से दगीला, एक आँख और एक कान से हीन। यदि अवध का कोई राजा इन पर हँस पड़ा तो आश्चर्य तो नहीं किया जा सकता, अशिष्ट भले ही समझा जाय। पर जायसी ने उनसे पूछा—"मोहि काँ हँससि कि कोंहरहि ?" मुझ पर हँसे कि विधाता कुम्हार पर। राजा को अपनी अशिष्टता विदित हुई और

उसने क्षमा माँगी। इनके चारों मित्रों में से यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ का सम्बन्ध गाजीपुर के महाराज जगतदेव से था। जायसी का भी इनके द्वारा जगतदेव से परिचय हुआ होगा। कम से कम इतना तो प्रसिद्ध ही है कि महाराज जगतदेव के कत्थक गंधर्वराज को इन्होंने यह आशीर्वाद दिया था कि उनके कुल में संगीत विद्या सदा बनी रहेगी। इसी आशीर्वाद के प्रति कृतज्ञता-स्वरूप इन गंधर्वराज के वंशज अब भी 'मलिक' की पदवी धारण करते हैं। जायसी सूफी फकीर तो ही, पहुँचे हुए फकीर थे। इनके आशीर्वाद में जोर था। कहते हैं कि अमेठी के राजा के इन्हीं के आशीर्वाद से संतान हुई।

जायसी के गुरु—जायसी ने 'पद्मावत', 'अखरावट', तथा 'आखिरी कलाम' इन तीनों पुस्तकों में अपने गुरुओं के सम्बन्ध में सूचना दी है। इससे यह तो विदित होता है कि उनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा दो भागों में बँट गयी थी—एक मानिकपुर कालपी वाली, दूसरी जायसी वाली।

कवि ने मानिकपुर-कालपी वाली शाखा की परम्परा का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है और उसके कितने ही नाम दिए हैं, किन्तु जायस वाली-परम्परा के दो-तीन नाम ही दिए हैं। इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि जायसी मानिकपुर-कालपी वाली परम्परा के शिष्य होंगे। किन्तु कुछ गम्भीर विचार करने पर पता चलता है कि सैयद अशरफ के प्रति उनका विशेष आदर-भाव था। सैयद अशरफ का नाम उन्होंने तीनों ग्रन्थों में लिया है, "आखिरी कलाम" में केवल इन्हीं का नाम है :—

"मानिक एक पाएउँ उजियारा
सैयद अशरफ पीर प्यारा"
जहाँगीर चिस्ती निरमरा।
कुल जग महँ दीपक विधि धरा ॥
तिन्ह घर हों मुरीद सो पीरू।

इन्होंने पीर केवल सैयद अशरफ जहाँगीर को ही बताया है। अतः इनके दीक्षा-गुरु सैयद अशरफ ही थे :—

"सैयद अशरफ पीर पियारा
जेहि मोहि पन्थ दीन्ह उजियारा।"

सैयद अशरफ द्वारा उन्हें पन्थ का ज्ञान हुआ, और इसी नाते वे निजामुद्दीन औलिया की समस्त शिष्य-परम्परा में गुरु-भाव रखते थे।

ग्रन्थ-निर्माण—जायसी ने तीन ग्रन्थ बनाये : पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम।

ऊपर इन ग्रन्थों के निर्माण-काल पर कुछ विचार हो चुका है। इन ग्रन्थों में से पद्मावत तथा आखिरी कलाम में ग्रन्थारम्भ की तिथियाँ दी हुई हैं। पद्मावत में लिखा है—

'सन नव सौ सैंतालिस अहा। कथा-आरम्भ-बैन कवि कहा ॥

सन् ९४७ हिजरी (१५३९ ई०) आखिरी कलाम में दिया है :—

नौ सै बरष छत्तीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे ॥

सन् ९३६ हिजरी (१५२८ ई०) में आखिरी कलाम आरम्भ किया गया। किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है आखिरी कलाम में तो बाबर का वर्णन है, वह ठीक है, पर

पद्मावत में शेरशाह सूर का वर्णन है। यह "अखरावट" के बाद लिखा गया, ऐसा विदित होता है।

"आखिरी कलाम" में कवि ने सृष्टि के अन्त और मुहम्मद साहब के महत्त्व का वर्णन किया है। प्रलयकाल के समय क्या अवस्था होती है। विविध फरिश्ते, मैकाइल, जिबराइल; इसरफील, अजराइल आदि इस प्रलय में क्या करते हैं, तथा फिर किस प्रकार "आप गोसाईं" की इच्छा से ये चारों फरिश्ते पुनरुज्जीवन प्राप्त करते हैं, मुहम्मद को ढूँढ़कर कहा जाता है चलो अपनी उम्मत लेकर चलो। वहाँ न्याय होगा। पापियों को नरक में डाल दिया जायगा। मुहम्मद साहब को बड़ी चिन्ता होती है, वे अपनी उम्मत को पार पहुँचाने के लिए आदम, मूसा, ईसा, इब्राहिम, नूह सभी के पास गए, कोई भी उम्मत को पार पहुँचाने में सहायक नहीं हो सके, सभी अपनी-अपनी परेशानी की शिकायत करने लगे तब रसूल ने स्वयं—"गोसाईं" से प्रार्थना की कि मेरी उम्मत की किसी को चिन्ता नहीं। आप मेरी उम्मत को जो दुःख देना चाहते हैं, वह मुझे दीजिये, मैं उसका दुःख अपने ऊपर लेता हूँ, पर उम्मत को मोक्ष दीजिए। विधि ने कहा—फातिमा को ढूँढ़ो उससे कहो कि वह क्रोध छोड़ दे।

अपने पिता रसूल के दुःख को देखकर फातिमा शान्त हो गई। विधाता ने नबी की बात मान कर समस्त उम्मत को नबी के साथ बहिश्त भेजने की योजना की। रसूल ने समस्त उम्मत की "ज्यौनार" की। अद्भुत भोजन थे, अमृत पीने को भर-भर कटोरा दिया गया। तब रसूल ने 'गोसाईं' से कहा कि जब तक आपके दर्शन सबको नहीं हो जाते हम बहिश्त में नहीं जायेंगे। विधाता ने प्रसन्न होकर दर्शन

दिये। तब जिवराइल दूलह मुहम्मद को उनकी समस्त उम्मत की बरात के साथ बहिश्त में ले चला, वहाँ अप्सराएँ मिलीं, विविध भवन सोने-रूपे के मिले। वहाँ सब आनन्द और सुख था—

"तहाँ न मीचु न नींद दुख, रह न देह में रोग।
सदा आनन्द "मुहम्मद" सब सुख मानै भोग॥"

पद्मावत में एक प्रेम कहानी है, जिसका पूर्व भाग लोक वार्ता है और उत्तर भाग ऐतिहासिक आधार पर है। लोक-वार्ता वाला भाग सिंहलद्वीप की रानी पद्मावती को प्राप्त करने के उद्योग से सम्बन्ध रखता है। चित्तौड़ के राजा रत्नसेन ने तोते से पद्मावती का सौन्दर्य सुना और मुग्ध होकर उसे पाने के लिए सिंहल को चल पड़ा। तोते के सहयोग से, अनेकों कष्टों को झेलते हुए भी, अन्त में शिवजी की कृपा पाकर पद्मावती से रत्नसेन का विवाह हुआ। रत्नसेन चित्तौड़ आया। ऐतिहासिक आधार अब यहाँ से आरम्भ होता है। पद्मावती से रुष्ट होकर राघवचेतन, अला-उद्दीन खिलजी के दरबार में गया। उसने पद्मावती के रूप की प्रशंसा की। अलाउद्दीन ने पद्मावती को प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई की, तब गोरा बादल ने रक्षा की। वे कौशल से रत्नसेन को अलाउद्दीन के फन्दे से भी छुड़ा लाये थे। रत्नसेन की अनुपस्थिति में देवपाल पद्मावती से प्रेम-याचना करता है; जब रत्नसेन को विदित होता है तो वह देवपाल का सिर काट लेता है, किन्तु देवपाल के आघात से उसके भी प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। पद्मावती और नागमती दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। इतिहास में देवपाल और राघवचेतन की घटना नहीं मिलती, यह भी कवि

ने अपने काव्य की दृष्टि से कल्पित करके लिखी है।

अखरावट—अखरावट लिखने की प्रणाली प्राचीन है। "कबीर की बारह खड़ी" प्रसिद्ध ही है। इसी परिपाटी में यह अखरावट है। इसमें वर्णमाला में आए, अक्षरों के क्रम से रचना की जाती है। वर्णमाला का अक्षर पहले देकर फिर उसी अक्षर से आरम्भ करके छन्द लिखा जाता है। इस प्रणाली में बहुधा धर्म के सिद्धातों का उल्लेख रहता है। सृष्टि-रचना और ब्रह्म तत्व के साथ गुरु और धर्म-आचार की व्याख्या इसमें की गयी है।

जायसी के इन सभी ग्रन्थों में पद्मावत का महत्व अद्वितीय है और वे पद्मावत के कारण ही हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर सके हैं।

सूरदास

संसार में बहुत थोड़े ऐसे महापुरुष मिलेंगे जो अन्धे होकर भी महानता प्राप्त कर सके हों, विशेषतः साहित्य के क्षेत्र में। ऐसे महान् व्यक्तियों में 'सूरदास' का नाम अग्रगण्य है। सूरदास उन विश्ववन्द्य विभूतियों में हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से विचारों और भावों में एक नये जीवन और नये रस का संचार किया। इनकी पुण्य स्मृति ही मनुष्य को रस-विभोर कर देती है।

सूरदासजी का जन्म 'सीही' नामक एक गाँव में हुआ। यह सीही[1] आज भी दिल्ली के पास बल्लभगढ़ नाम के रेलवे स्टेशन के पास स्थित है। यह वही सीही है जिसमें सूरदास पैदा हुए थे, इसका कोई प्रबल प्रमाण तो उपलब्ध नहीं, पर आगरा-मथुरा की सड़क पर

---

१ कुछ लोग भ्रमवश चौरासी वैष्णवों की वार्ता के आधार पर सूरदास का जन्म-स्थान रेणुका क्षेत्र के पास स्थित रुनकता गाँव मानते हैं। वस्तुतः किसी वार्ता में यह उल्लेख नहीं कि इनका जन्म रुनकता में हुआ। रुनकता में यह रहते थे। 'सीही' का उल्लेख भी हरिरायजी ने अपने भावप्रकाश में किया है।

मुगलों के समय में जो सीही थी, वह यही है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी से अनुमान होता है कि यही सीही सूरदास का जन्म-स्थान होगा।

वल्लभ संप्रदाय की प्रसिद्ध वार्ताओं के यशस्वी भावप्रकाश-कार श्री हरिरायजी ने सूरदास की बाल्यावस्था का जो परिचय दिया है वह इस प्रकार है:—

"सो सूरदासजी दिल्ली के पास चारि कोस उरे में एक "सीही" गाम है, जहाँ राजा परीक्षित के बेटा जनमेजय नें सर्प यज्ञ कियो है। ....तहाँ आइकें श्री यमुनाजी के तीर स्थल बनाइकें रहे"

इस कथन से यह प्रकट होता है कि सूरदासजी जन्म से अंधे थे। दरिद्र माँ-बाप के घर में जन्मान्ध बालक का उत्पन्न होना समस्त कुटुम्ब के लिए दुःख का कारण ही है। कौन उसे जिन्दगी-भर बिठाकर खिलायेगा। सूरदास जैसे प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति पर बाल्यावस्था में ही माँ-बाप के दुःख का प्रभाव पड़ा। महान् पुरुष की भाँति सूरदास ने सोचा कि मुझे अपना भार स्वयं ही सँभालना चाहिए। क्यों अपने माता-पिता के लिए बोझ बन कर रहूँ। इस शुभ संकल्प ने उनमें आत्म-बल पैदा किया। वे माँ-बाप को छोड़कर चल पड़े, सीही से चार कोस दूर तालाब के किनारे पर वे कुछ वर्ष रहे। उनमें कुछ अनोखा अन्तर्ज्ञान पैदा हो गया था। खोई हुई वस्तु का पता वे अपनी सहज बुद्धि से बता देते थे। फलतः वहाँ सूरदासजी की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी। धन भी एकत्र हो गया। तभी सूरदास को फिर चेत हुआ। 'मैं यह क्या कर रहा हूँ? क्या घर इसलिए छोड़ा था? नहीं!'

माया के बंधन में मुझ जैसे अंधे को नहीं बँधना चाहिए। यह बोध होते ही सूरदास ने अपने पिता को बुलाया और समस्त संपत्ति उन्हें सौंप कर वे मथुरा की ओर चल पड़े; मथुरा पहुँच तो गये पर यहाँ आकर उनका मन लगा नहीं। संभवतः उन्हें यह प्रतीत हुआ कि यहाँ इतने बड़े शहर में उन्हें कौन पूछेगा, पेट भरने के भी लाले पड़े रहेंगे। तब वे आगरा की ओर चले, और रेणुका क्षेत्र के पास गौघाट पर अपनी कुटी बनायी। यह स्थान यमुना के किनारे था, अत्यन्त रमणीक, वृक्षों की हरियाली, यमुना की कलकल और गौओं के विश्राम स्थल[1] के कारण उनके रँभाने के स्वर से यह स्थान मनोरम ही नहीं कलरव से युक्त भी था। रेणुका क्षेत्र के पार्श्व में होने के कारण तीर्थ जैसा महत्त्व भी था। किन्तु एक और कारण से इस स्थान का सम्मान अकबर के समय में बढ़ा हुआ था। यहाँ से नदी मार्ग द्वारा व्यापार होता था, माल लदता था[2] और आगरा से दिल्ली वाले मार्ग पर यह

१—गौ घाट वही कहलाता है जहाँ गायें पानी पीने और विश्राम करने आती हैं।

२—गौ घाट के पास 'सरवर सुलतान' की समाधि व्यापार और नावों में माल लदने की साक्षी है। यह विश्वास किया जाता है कि यदि कोई नाव फँस जाय तो सरवर सुलतान के स्मरण से वह फिर चल सकती है। एक सेठ की नाव यहाँ फँस गयी थी। उसने सरवर सुलतान का स्मरण किया, नाव चलने लगी। उसने ही यह समाधि बनवायी। पर यह घटना वस्तुतः पंजाब प्रान्त में घटी थी। ऐसा विदित होता है कि उस समय से सरवर सुलतान नौ-व्यापारियों का रक्षक हो गया, और उतारे अथवा चढ़ाए के स्थानों पर उन्होंने यह समाधियाँ बनवायीं। इन समाधियों पर मेला भी लगने लगा और 'जात' होने लगी।

यात्रियों का पड़ाव था।[१] सूरदास का मन यहाँ रम गया। संगीत से उन्हें प्रेम था, कण्ठ उनका मधुर था, वे पद बना कर गाने लगे। धीरे-धीरे उनका नाम फैला। वे स्वामी सूरदास कहलाने लगे, अनेकों आदमी उनके शिष्य बनने लगे। इस प्रकार उन्हें कई वर्ष गौघाट पर बीते। वे शिष्य बनाते थे, स्वामी कहलाते थे, किसी प्रकार की कोई कमी नहीं थी, मान-प्रतिष्ठा भी पूरी थी; फिर भी सूरदास के मन में निरंतर क्षोभ रहता था। जो समस्या कबीर के सामने रही थी, वही सूरदास के सामने थी, उनका गुरु कौन था? बिना गुरु के सच्चा ज्ञान क्या मिल सकता है? सूरदास अंधे होने के कारण गुरु की तलाश में उतने तो नहीं भटके जितने कबीर भटके थे, फिर भी सीही से मथुरा होते हुए गौघाट तक पहुँचने में गुरु की खोज भी छिपी हो तो कौन कह सकता है। अभी तक वे गुरु प्राप्त करने में असफल रहे थे—यही कारण है कि उनके मन की वेदना और भी अधिक बढ़ गयी थी, वे अत्यधिक दीन हो चले थे, उनकी दीनता के स्वर ने घिघियाने का रूप धारण कर लिया था। तभी इस पड़ाव पर एक दिन महाप्रभु वल्लभाचार्य आकर ठहरे। वे अँड़ेल से आ रहे थे, मथुरा जा रहे थे। वल्लभाचार्यजी का यश सूरदास सुन चुके थे, गौघाट पर वल्लभाचार्य को भी सूरदास के यश का परिचय मिला। सूरदास महाप्रभु की सेवा में दर्शनार्थ पहुँचे और अपने संगीत से अपने अतिथि का सत्कार किया। पर यह क्या? महाप्रभु की गंभीर वाणी सुन पड़ी—"सूर! ऐसे क्यों घिघियात हौ। कछु भगवद्-लीला वर्णन

१—देखिये Tie Henthaler चहार गुलशन। चहार गुलशन में इसे 'घनूघाट' लिखा है। यहाँ पर पक्की सराय थी।

करि ।" आचार्य महाप्रभु की इस वाणी ने सूरदास के वेदना-विकल हृदय में आशा की उज्ज्वल रेखा खींच दी। उन्होंने आचार्यजी के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। उन्हें जिस गुरु की आवश्यकता थी, जिसे वे खोज रहे थे, वह मिल गया। आचार्यजी ने उन्हें मन्त्र दिया, लीला-भाव का रहस्य समझाया। सूरदास के दिव्य नेत्रों के समक्ष आचार्य की कृपा से समस्त कृष्ण-लीला नाचने लगी और सरस्वती उस लीला को विभोरता से युक्त कर पदों में उतारने लगी। सूरदास कृष्णलीला गाने लगे।

"श्री वल्लभ गुरु तत्व बतायौ लीला भेद बतायौ

इस दिन से सूरदासजी श्री वल्लभाचार्यजी के अत्यन्त प्रिय भक्त हो गये। ये आचार्यजी के साथ गोवर्द्धन पहुँचे। आचार्यजी ने श्रीनाथजी के मंदिर में इन्हें ठाकुरजी का कीर्तनियाँ नियुक्त कर दिया। सूरदासजी समय-समय के कीर्त्तन गाते। इस प्रकार इस प्रज्ञा-चक्षु भक्त का जीवन भगवान् कृष्ण को समर्पित हो गया। दिन-पर-दिन बीतने लगे, पदों पर पद रचे जाने लगे। हजारों ही पद लिखे गये। प्रत्येक पद इधर रचा गया, उधर गाया गया। सूरदास के पद 'विष्णु पद' कहे जाते थे, और सूरदास विष्णु-पद रच-यिता के नाम से विख्यात हुए। इनके संगीत की कीर्ति फैली, इनकी पद-रचना पर लोग लट्टू होने लगे। इनके पद और गायन के गौरव को सिद्ध करने वाली कई निजंधरी कथाऐं कही जाती हैं।

कहा जाता है कि तानसेन सूरदास के मित्र थे। ये सूर-दास के पदों पर इतने रीझे हुए थे कि एक बार इन्होंने कवि से कह ही डाला—

"किधौं सूर कौ सर लग्यौ किधौं सूर को तीर।
किधौं सूर कौ पद लगौ तन मन धुनत सरीर॥'

इन्हीं तानसेन ने सूरदास के संगीत की सम्राट अकबर से इतनी प्रशंसा की कि वह भी इनसे मिलने और इनके संगीत का रसास्वादन करने के लिए विकल हो उठा। वार्ता में लिखा है कि मथुरा में अकबर ने सूरदास को बुलवाया और चाहा कि वह अकबर का भी यश वर्णन करे किन्तु सूरदास ने स्पष्ट कहा—

नाहिंन रह्यौ उर में ठौर

यह साहस महान् आत्माओं में ही मिलता है, वे किसी की खुशामद नहीं कर सकते। कलाकार तो कला का धनी होता है, उसे कला प्राप्त हो गयी तो और किस धन की चाह रही! वह कला के लिए सब कुछ त्याग सकता है। अकबर ने भी सूरदास को कुछ देना चाहा था पर सूरदास ने उसे ठुकरा दिया।

यह भी विख्यात है कि अकबर को सूरदास के पद बहुत पसन्द थे। उसने उनके पदों को संग्रह कराने का आयोजन किया था। यह घोषणा की थी कि सूरदास के पदों को लाने वाले को प्रत्येक पद पर एक मुहर दी जायगी। तब धन के लालच से अनेक व्यक्ति नकली पद सूरदास के नाम की छाप लगा कर लाने लगे। यह बात अकबर के कान में भी पड़ी। उसने कहा—सूरदासजी के जितने भी पद हैं उन्हें लिख लिख-कर पानी में डालो। जो तैरता रहे वह सूरदास का जो डूब जाय वह नकली! इस प्रकार सूरदास के पद छाँट कर तब सूरसागर का संकलन अकबर ने कराया।

सूरदास जी के संगीत और पदों की कीर्ति उनके जीवन-

काल में ही इतनी अधिक फैल गयी थी कि उनकी रचनाओं के संग्रह प्रस्तुत किये जाने लगे थे। इनका इतना नाम था कि लोग इनके नाम से नक़ली पद भी लिखने लगे थे। अकबर के समय में ही सूरदास के असली और नकली पदों को पृथक करने की समस्या खड़ी होगयी थी।

सूरदास की कितनी ही रचनाएं प्रसिद्ध हैं। पर यथार्थ में उनकी रचनाओं में सूरसागर ही प्रमुख है। सूरसागर में कितने पद हैं यह बात विवादास्पद है। एक मत कहता है कि इन्होंने एक लाख पद रचे। साम्प्रदायिक दृष्टि से उनके रचना काल के अन्तर्गत जितने पद लिखे जा सकते थे, हिसाब से उनकी संख्या एक लाख से ऊपर ही बैठती है, अतः एक लाख पदों की रचना असंभव तो नहीं कही जा सकती। फिर भी अब तक जो संग्रह उपलब्ध हुए हैं उनमें कुछ हज़ार से अधिक पद नहीं मिलते। वार्त्ता में एक स्थान पर इन्हें सहस्रावधि पदों का रचयिता बताया गया है। इससे सहस्र-अवधि 'हजारों' की संख्या ही सिद्ध होती है, किन्तु समास से 'सहस्र की अवधि' जहाँ समाप्त होती है वहाँ की संख्या, लाख, भी अर्थ हो सकता है। वार्त्ता में सूरदास के अन्तिम समय का जो प्रसंग दिया हुआ है उसमें लिखा कि सूरदास जी की प्रतिज्ञा थी एक लाख बनाने की। वे पूरे पद नहीं बना पाये थे और उधर अंतिम घड़ी पास आ रही थी। अतः सूरदास को विकल देख कर भगवान कृष्ण ने उन्हें बताया कि तुम्हारा संकल्प पूरा हो गया है। जितने पद तुम नहीं बना सके थे वे मैंने बना दिये हैं, उनमें तुम्हारी छाप मैंने 'सूर-श्याम' रखदी है। अब निश्चिन्त होकर प्राण-विसर्जन कर सकते हो। सूरदास ने सूरसागर उठाकर देखा तो सच-

मुच उसमें सूरश्याम के पद थे। इस वार्त्ता से भी यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि मृत्यु-समय तक सूरदास जी पूरे एक लाख पद नहीं बना पाये थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जितने भी पद प्राप्त होते हैं, उतने ही इन्हें विश्व का महान् कवि सिद्ध करने को पर्याप्त हैं।

सूरदासजी महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य हुए। ये पुष्टि मार्ग के 'जहाज' माने जाते थे। बल्लभाचार्य जी वेद शास्त्र में पारंगत धुरन्धर विद्वान थे। १६वीं-१७ वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था उसके ये प्रधान प्रवर्त्तकों में से थे। इन्होंने वेदान्त-सूत्रों पर एक स्वतंत्र भाष्य रच कर रामानुजाचार्य जी के विशिष्टाद्वैतवाद से पृथक शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की।

इनके मत में सत्, चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपों का कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव रहता है। मायात्मक जगत मिथ्या नहीं, क्योंकि माया ब्रह्म की ही शक्ति है। जीव में जब आविर्भाव और तिरोभाव का नाश हो जाता है तभी वह शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करता है। ऐसा केवल ईश्वर के अनुग्रह से हो सकता है। यह पुष्टि अथवा पोषण है। इसीलिए वल्लभाचार्य का मत पुष्टिमार्ग कहलाता है। इन्होंने भारत के सब भागों में पर्यटन किया और अन्त में अपने उपास्यदेव श्रीकृष्ण की जन्मभूमि गोकुल में जा कर अपनी गद्दी स्थापित की। कृष्ण ही ब्रह्म है। आत्मा ब्रह्म का अंश है, जैसे स्फुलिंग अग्नि का अंश होता है। आत्मा को ब्रह्म कृष्ण में अपना पूर्ण समर्पण कर देना चाहिए। गोपियाँ आत्मा हैं। गोपी-कृष्ण के मिलन के व्यापार में प्रेमा भक्ति

व्याप्त है। यही इस मार्ग का मूलाधार है। उसके प्रभाव से ब्रजभाषा में मधुर गीति, काव्य की सृष्टि हुई।

सूरदास महाकवि हैं। उन्होंने सूरसागर के निर्माण में भागवत का सहारा तो लिया पर भागवत के विषय को अपनी प्रतिभा से मौलिक स्वरूप प्रदान कर दिया। भागवत के प्रबंध-काव्य को उन्होंने मुक्तक में परिणत कर दिया। गेय तत्त्व का विशेष समावेश कर, अपनी रचना को इन्होंने गीतिकाव्य का स्वरूप प्रदान किया। भागवत की घटनाओं को कवि ने अपने भावों की अथाह गहराई, वैचित्र्य और भाव-सौन्दर्य से अभिमंडित कर दिया। एक ही विषय पर, कवि पुनरावृत्ति से भयभीत हुए बिना ही, एक के पश्चात् एक, अनेक पद रचता चला गया है।

'सूरसागर' का प्रत्येक वर्णन विशद और आकर्षक है, किन्तु वात्सल्य अथवा बाल-लीला-वर्णन तथा शृङ्गार में यह अद्वितीय है।

वात्सल्य अथवा बाल-वर्णन में कवि ने बाल-क्रीड़ा, बाल-मनोविज्ञान तथा वात्सल्य इन तीनों की त्रिवेणी प्रस्तुत करदी है। बालक के जन्मोत्सव से किशोर अवस्था तक पहुँचने के एक विकास का पूर्ण और सजीव चित्र यहाँ मिल जाता है। बच्चे की स्वाभाविक तथा अटपटी क्रीड़ायें, उसकी अनुकरण तथा स्पर्द्धा की भावना, आत्म-सम्मान, हठ, नटखटपन सभी तो हैं—साथ ही नन्द-यशोदा तथा परिजनों के मनोभाव, सखाओं के साथ उपद्रव, सभी का चित्र वास्तविक है। इनके साथ उनके रूप-सौंदर्य के अनुभूतिमय साक्षात्कार ने सोने में सुगन्ध भर दी है। कवि ने आलम्बन-पक्ष में शिशु तथा

बाल कृष्ण की छोटी से छोटी क्रीड़ा की भी उपेक्षा नहीं की। आश्रय पक्ष में यशोदा की मनोस्थिति का पद-पद पर परिचय दिया है—और इन वर्णनों में मातृ-हृदय-सागर के अनन्त वात्सल्य-भाव-रत्न कवि ने भर दिये हैं।

किशोरावस्था आने पर राधा से भेंट होती है—उसका अत्यन्त ही स्निग्ध अबोधचित्र सूर ने दिया है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कबहुँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रजतन आवत खेलत रहत आपनी पौरी,
स्रवनन सुनत रहत नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलें चलौ दोउ मिलि जोरी,
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी।

इसके अनन्तर प्रेम की संयोगावस्था के विशद वर्णन में कवि ने सभी संभव भावों पर अनेकानेक पद लिखे हैं। शृङ्गार रस के उद्दीपक तत्वों में रूप-सौंदर्य के साथ नाद-सौंदर्य का समावेश भी प्रस्तुत करके उसको नेत्रों के साथ कर्णों का भी विषय बना दिया है। 'मुरली' का कृष्ण-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। 'रास'-लीला इस संयोगावस्था का चरम है।

वियोगावस्था का वर्णन भी विशद और पूर्ण है। इसमें भी 'भ्रमर गीत' शिरोमणि है। वियोग में मुखर गोपिकाएँ अपने हृदय की समस्त पीड़ित भावनाओं को उच्छ्वास की भाँति उद्धव से बातें करते हुए भ्रमर को संबोधन करके उद्घाटित कर देती हैं—'सूरसागर' यथार्थ में सागर है, उसमें भाव-राशि की गहराई की थाह नहीं लग पाती, पदों के द्वारा अभिधेय भाव तो उठने वाली लहरियों की भाँति

है। सूरदास की भाव-संपत्ति का अभी तक तो आंशिक अध्ययन भी नहीं हुआ, उसका साधारण अध्ययन भी पूर्ण हो जाने पर भावों की गहराई की थाह लेने का कार्य युग-युग तक नये रत्नों का उद्घाटन करेगा।

सूरदास के काव्य का आधार पुष्टिमार्ग था, किन्तु पुष्टि-मार्ग का आग्रह भी उनके काव्य को संकीर्ण नहीं कर सका। विशद मानवीय भावनाओं का ऐसा पूर्ण और सूक्ष्म वर्णन विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

सूरदासजी की भाषा चलती ब्रज भाषा है। सूर के समय में वह पूर्णतः समर्थ थी। यह इससे ही प्रकट है कि सूरदास जी ने उसके द्वारा इतने गहरे और विशद भावों को अभि-व्यक्त किया। ब्रजभाषा की ऐतिहासिक माधुरी का उत्कर्ष सूर की भाषा में भी मिलता है।

———

मीरा

जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधा जी के पुत्र राव दूदा जी ने अपने पराक्रम से मेड़ते का राज्य स्थापित किया था। इन दूदाजी के चौथे पुत्र रत्नसिंह को मेड़ता की ओर से जो १२ गाँव निर्वाहार्थ मिले हुए थे, उन्हीं में से एक कुड़की (कुछ का मत है कि गाँव का नाम चौकड़ी है) नामक गाँव में मीरा का जन्म हुआ। मीरा ने स्वयं लिखा है 'मेड़तिया घर जनम लियौ है मीरा नाम कहायो।'

मीरा का जन्म सम्वत् क्या था इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मीरा के किसी पद में तो किसी भी सम्वत् का उल्लेख है नहीं। ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर और जनश्रुति से मीरा का जन्म १५५५ संवत् में विशेष मान्य ठहरता है। बाल्यावस्था में ही मीरा की माँ की मृत्यु हो गयी थी। इन्हें बचपन से ही कृष्ण में भक्ति हो गयी थी। इनके पितामह परम वैष्णव थे। उनका प्रभाव तो इन पर पड़ना ही चाहिए। किसी साधु से इन्होंने कृष्ण की एक प्रतिमा बाल्यकाल में ही मचल कर ले ली थी, और उसे ये अपनी ससुराल भी ले गयी थीं।

विवाह—राव दूदा की मृत्यु के उपरान्त उनके बड़े लड़के बीरमदेव ने राज्य-भार सँभाला। इन्होंने मीरा का विवाह १८ वर्ष की अवस्था में कर दिया था। यह संवत् १५७३ के लगभग हुआ। कर्नल टाड के राजस्थान के अनुसार मीरा का विवाह मेवाड़ के राणा कुम्भा के साथ हुआ। किन्तु यह इतिहास की साक्षी के विरुद्ध है। कुम्भा की मृत्यु १५२४ में हो चुकी थी, इसी समय के लगभग तो मीरा के पितामह दूदा ने मेड़ता का राज्य प्राप्त किया। मीरा ने अपने पदों में अपनी ससुराल की ओर कई स्थानों पर संकेत किया है।

राठौरों की धीयड़ी जी सीसोद्यां के साथ।
वर पायो हिन्दुवाणी सूरज अब दिलमें कहा धारी॥

जीवन घटनायें—मीरा में भक्ति के बीज पहले ही जम चुके थे, यहाँ अपने पति के पास वे और अंकुरित तथा पल्लवित होने लगे किन्तु मीरा को पति का सौभाग्य अधिक समय तक नहीं मिला। सम्वत् १५८० के लगभग भोजराज का स्वर्गवास हो गया, मीरा विधवा हो गयी। इस घटना से उनका मन संसार से विरक्त हो उठा होगा। और वे कृष्ण की भक्ति में और भी अधिक डूब गई होंगी। मीरा ने अपनी रचनाओं में अपने वैधव्य का उल्लेख नहीं किया, कारण स्पष्ट है। वे कृष्ण को ही अपना पति मानती थीं, उधर कुछ और भी राजनीतिक घटनाएँ घटीं। मीरा के श्वसुर राणा साँगा का देहावसान सम्वत् १५८४ में हो गया। उनके बाद रत्नसिंह जो भोजराज के छोटे भाई थे सिंहासनारूढ़ हुए। १५८८ में, चार वर्ष बाद ही रत्नसिंह की मृत्यु हो गयी। तब रत्नसिंह के सौतेले भाई विक्रमादित्य राणा हुए। विक्रमादित्य मीरा की इन बातों को नहीं सह सके, एक राजमहल

की रानी साधुओं के साथ रहे, गाये, नाचे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने मीरा को इस पथ से विचलित कर देने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। जब मीरा ने कोई ध्यान न दिया तो राज-मर्यादा के लिए मीरा को बलि कर देने का निश्चय किया। पहले जहर का प्याला भेजा, मीरा उसको पी गयी और उसका मीरा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर एक पिटारे में विषधर सर्प भेजा, वह शालिग्राम की बटिया बन गया। इन दोनों घटनाओं का मीरा के पदों में अनेक बार उल्लेख हुआ है।

विष को प्यालो राणाजी मेल्यौ, द्यो मेड़तणी ने प्याय
कर चरणामृत पी गई रे गुण गोविन्द रौ गाय,

* * * *

सांप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिग राम गई पाय।

नाभादास ने अपने भक्तमाल में विष-प्याला पीने का उल्लेख किया है।

दुष्टनि दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयो,
बार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो।

प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में और भी कई घटनाओं का उल्लेख किया है। अकबर तानसेन के साथ मीरा के दर्शन करने आया। वृन्दावन में जीव गुसाईं से मीरा मिली। जीव गुसाईं ने स्त्रियों से मिलने का निषेध कर दिया था। जब मीरा मिलने गयी तो यही उत्तर उन्हें भी दिया कि वे किसी भी स्त्री से नहीं मिलते। मीरा ने कहला भेजा कि कृष्ण ही एक पुरुष हैं, शेष सब उनकी स्त्रियाँ ही हैं। इस उत्तर से गुसाँईजी प्रभावित हुए और मीरा से मिले। मीरा मेवाड़

छोड़ कर द्वारिका चली गयीं। वहाँ राय रणछोर की सेवा में रहीं। यहीं जब मेवाड़ को लौटा लेजाने लोग आये तो मीरा रणछोर जी की मूर्ति में समा गयीं। प्रायः सं० १६०३ में।

मुनि विदा होन गई राय रनछोर जू पै,
छोड़ौ राखौ ही न लीन भई नहीं पाइये।

जनश्रुति में प्रसिद्ध है कि जब मीरा को राणा के द्वारा बहुत कष्ट मिले थे, तो उन्होंने तुलसीदासजी से, पत्र लिखकर परामर्श माँगा था कि

श्री तुलसी सब सुख निधान, दुख हरन गुसाँई।
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई॥
साधु सन्त अस भजन करत मोहिं देत कलेश महाई।
बालापन तैं मीरा की रही गिरधरलाल मिताई॥
सो तौ अब छूटत नहिं, क्यों हूँ लगी लगन बरिआई।
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखियौ समुझाई।

श्री तुलसीदास जी ने लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

इस घटना का उल्लेख मूल गुसाईं चरित में भी किया गया है। इसको पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जाता। इसका एक कारण यह बतलाया जाता है कि मीरा की पदावली में यह पद मिलता नहीं। मिलता भी है तो किसी दूसरे रूप में। दूसरे तुलसी और मीरा के जीवनकाल का जो भाग परस्पर मिलता है वह कौनसा है और उस समय मीरा वह पत्र लिख भी सकती थीं और तुलसीदास तब तक ख्याति पा भी चुके थे कि मीरा उनसे परामर्श माँगती? यह प्रश्न विवादास्पद है। इसका विस्तृत समाधान परशुराम चतुर्वेदी की मीराबाई

की पदावली नामक पुस्तक के परिशिष्ट से किया जा सकता है। मीराबाई की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने निश्चय किया है कि सं० १६३० वि० है। यदि तुलसीदास जी का जन्म सं० १५८७ वि० में माना जाय तो मीरा से तुलसी का पत्र-व्यवहार असंभव होगा किन्तु यदि वेणीमाधवदास के गुसांई चरित के आधार पर जन्म संवत् १५५४ माना जाय तो तुलसी और मीरां में पत्रव्यवहार सम्भव माना जा सकता है। गुसांई चरित की तिथियों की प्रामाणिकता असंन्दिग्ध नहीं है।

मीरा के गुरु—किम्बदन्तियों में प्रचलित है कि मीरा ने रैदास को अपना गुरु बनाया। मीरा की छाप से मिलने वाले कितने ही पद भी मिलते हैं जिनमें रैदास के गुरु होने का उल्लेख है। उदाहरणार्थ।

मेरो मन लागो हरिसूँ, अब न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रैदास जी दीनी ज्ञान की गुटकी॥

अथवा

रैदास सन्त मिले मोहिं सतगुरु दीन्ह सरन सहदानी।

किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह मत मान्य नहीं हो सकता। रैदासजी मीरा से पहले हुए हैं। सन संवत् का हिसाब लगाने से तो रैदास की मृत्यु मीरा के जन्म से पूर्व ही हो गयी थी, ऐसा मानना पड़ता है। संवत् १५५० या १५६० के बाद रैदास जीवित नहीं थे। मीरा का जन्म सं० १५५५ में हुआ।

तब या तो ये पद प्रक्षिप्त हैं और मीरा की पदावली में किसी ने मिला दिये हैं या उन्होंने रैदास की वाणी से प्रभावित होकर तथा उनके अन्य अनुयायियों से रैदास की

भक्ति को सुन समझ कर उन्हें गुरु मान लिया होगा और रैदासी सम्प्रदाय में सम्मलित हो गयी होंगी।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने यह चेष्टा की थी कि मीरा पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो जायँ। कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि कृष्णदास अधिकारी जी ने उससे कहा—जो तू श्री आचार्यजी महाप्रभून की सेवक नाहीं होत ताते तेरी भेंट हम हाथ से छूवेंगे नहीं। मीरा ने पुष्टिमार्ग स्वीकार नहीं किया। प्रतीत ऐसा होता है कि मीरा को कृष्ण से बालकपन ही में जो प्रेम हो गया था वह इतना गहरा, दृढ़ और स्वाभाविक था कि उसने उसकी आयु के साथ बढ़कर मीरा को पूर्णतः प्रेम-विभोर कर दिया। उसे गुरु आदि की मर्यादा का ध्यान ही नहीं आया। यद्यपि उस युग में गुरु का बड़ा ही महत्व था। निगुरा व्यक्ति घृणा के योग्य और बहिष्कार के योग्य समझा जाता था। किन्तु मीरा ने फिर भी गुरु नहीं किया।

अधिक सम्भावना यही लगती है कि मीरा का कोई गुरु नहीं था, हाँ सन्त-समागम उन्हें विशेष प्रिय था और कृष्ण या ब्रह्म ही उनका सतगुरु था। मीरा ने जहाँ निगुरा को बुरा कहा है वहाँ उनका अभिप्राय सतगुरु हरि से विरक्त रहने वाले व्यक्ति से ही है। यथा

म्हांरा सतगुरु वेगा आज्योजी म्हारे सुखरी सोर बुवाज्यो जी।
तुम बीछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन माही मुरझाऊँ जी॥
ज्यूँ जल त्यागा मीना जी तुम दरसण बिन खीना जी।

अथवा

सतगुरु म्हारी प्रीति निबाज्यो जी।

अथवा

निरधारा आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज ?
जिसको हरि से गुरु मिल जायँ उसे और क्या चाहिए !

युग की प्रवृत्तियाँ—मीरा जिस युग में हुई वह धार्मिक सहिष्णुता का युग था। विदेशी शासकों की क्रूरता का आतंक ऐसे युग में कम हो गया था। फलतः शतशः वर्षों से हृदय में उमड़ती हुई करुणा का बांध ऐसे समय टूट पड़ा था। उसने काव्य का और भक्ति का रूप ग्रहण कर लिया था। यही कारण है कि इस युग में कबीर और जायसी में अथवा कबीर से जायसी तक के युग के कवि-धर्म का उपयोगिता-पक्ष हिन्दू मुसलमानों को मिल जाने के लिए एक आह्वान था। इस समस्या को जैसे इतिहास ने अकबर को सिंहासनारूढ़ कराके हल कर दिया था। अब काव्य में इसकी चर्चा नहीं होती। कवियों के काव्य ने धर्म-प्रवर्तन का दम्भ भी त्याग दिया पर कवि-धर्म का भावपक्ष अब भी कबीर द्वारा निर्देशित ज्ञान मार्ग की धूमिल पगडण्डी नहीं छोड़ सका। ज्ञान और भक्ति में जैसे कि प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हो गयी हो। तुलसी ने दोनों का सम्बन्ध करने की चेष्टा का। सूर तथा नन्ददास ने उद्धव-गोपी के रूप में ज्ञान और भक्ति का स्पष्ट विवाद ही करा दिया है और ज्ञान का परास्त करने का पूरा उद्योग किया है। तुलसी के ज्ञान में शुद्धता आ गया है। वह ज्ञान कबीर के ज्ञान जैसे गोरख पन्थियों के हठयोग से मिलकर नहीं बना। सूर के उद्धव में अवश्य कबीरवादी ज्ञान की हलकी झलक है। ज्ञान और भक्ति की इस प्रतिद्वन्द्विता को मीरा ने समाप्त ही कर दिया। ज्ञान के उपादान भक्ति में समा गये हैं। इस युग में भक्ति की प्रवृत्ति भी सरल नहीं थी। एक-

वह भक्ति थी जो ज्ञानवादी सन्तों में निराकार की आराधना का आधार थी। यह नाम की भक्ति थी, रूप की नहीं। दूसरे शब्दों में यह भक्ति हृदय के लिए खूँटा मात्र थी जिससे मन बँधा रहे। दूसरी भक्ति नाम रूप दोनों की थी; जिसमें रूप बाहरी वृत्ति को विरमाये रखने के लिए और नाम अन्तर्वृत्ति को भक्ति में प्रवृत्त रखने के लिए। इस भक्ति में ही राम से बड़ा उसका नाम माना गया है। इसके दूसरे पहलू को महत्ता देने वाली एक भिन्न भक्ति मानी जायगी जिसमें नाम को नहीं रूप को ही माना गया हो।

ऐसी ही भक्ति में यह गाया जाता है।

> मधुकर कासों कहि समझाऊँ।
> अंग अंग गुन गहे स्याम के निर्गुन काहि बताऊँ॥

अथवा

> या घट भीतर सगुन निरंतर रहे स्याम भरि पूरि।
> पालागी कहियो मोहन सों जोग कूबरी दीजै।
> सूरदास प्रभु रूप निहारें हमरे सम्मुख कीजै॥

इस युग में इन सभी भक्ति प्रवृत्तियों के साथ दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव की भक्ति के भी प्रकार मिलते हैं।

मीरा की प्रवृत्तियाँ—भक्ति युग का प्रभाव मीरा पर अवश्य ही पड़ा है जैसा सभी पर पड़ता है। युग की अन्तर-प्रवृत्ति के कारण ही मीरा को भक्ति ने आकर्षित किया। किन्तु उनकी भक्ति रूपात्मक दाम्पत्य भाव की भक्ति थी। नाम का महत्व मीरा के लिए नहीं है रूप का ही महत्व है। नाम के साथ गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है वह गुण भी मीरा के लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखते कि उनकी छाप कोई प्रभाव

बढ़ा सके। मीरा ने तो गिरिधर से प्रेम किया है। वह उनको परिणीता हो गयी हैं। उनके ही रंग में रँग गयी हैं। इसीलिए मीरा में अपने प्रेम की पीड़ा अथवा विरह की आग तो है पर भक्त की-सी वह गिड़गिड़ाहट नहीं है जिसमें अपने को 'पतितन को टीकौ' माना जाय और अपने दुर्गुणों और पापों का स्मरण अथवा उद्‍घाटन किया जाय।

मीरा में ऐसी भावना का अभाव है। किसी भी पद में उन्होंने ऐसा विनय प्रकट नहीं किया। वह तो अपने को नहीं देखती कृष्ण को देखती हैं। उनके मानस-पटल पर कृष्ण प्रेम की छाप है। उनके समस्त उद्‍गारों में या तो कृष्ण के रूप का वर्णन है अथवा अपना समर्पण अथवा विरह-दशा और संयोग-दशा का। उनका मन, अतः, या तो कृष्ण के रूप पर या उसकी मीरा सम्बन्धी मानसिक प्रतिक्रिया पर विचार करता है और उसे ही निवेदन कर देता है।

ज्ञान—ज्ञान में गोरखपन्थियों का हठयोग, उस काल में, सन्तों तथा सर्व साधारण में विशेष प्रचलित था; किन्तु यह युग उसके विरोध का तो था ही फिर भी सर्व साधारण में उसकी चर्चा थी। मीरा ने इस हठयोग का कहीं-कहीं उल्लेख किया है। इस हठयोग की शब्दावली का चमत्कार तो मीरा में देखने को मिलता है पर मीरा की आत्मा का स्पन्दन उसके साथ नहीं है।

मीरा के इष्टदेव—मीरा गिरधर नागर की चेरी थीं। मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई। स्पष्ट ही यह गिरधर नागर गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण थे। किन्तु मीरा की इस उपासना और इस प्रेमार्पण में भी कोई संकुचित साम्प्रदायिक भाव नहीं थे। जब जिस नाम से उसे स्मरण करने में उन्हें

सुविधा हुई है तब उसी नाम का उपयोग उन्होंने कर लिया है। हाँ साधारणतः कृष्ण के गिरधर नाम के बाद राम का नाम ही उन्हें विशेष प्रिय रहा है। राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं। कृष्ण के अनन्य भक्त सूर ने भी राम और कृष्ण में अन्तर नहीं समझा। और एक अवतार में दूसरे अवतार की घटनाओं का आरोप कर दिया है। मीरा ने भी हरि के चरणों के रूप में तादात्म्य कर दिया है।

मन रे परसि हरि के चरण।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्माण्ड भेद्यो नखसिखां सिरी धरण।
जिण चरण प्रभु परसि लीने तारि गौतम धरण।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो गोप लीला करण।

इसमें नृसिंह, नारायण, वामन, राम तथा कृष्ण अवतारों का उल्लेख हुआ है। मीरा सभी को एक मानती हैं। किन्तु राम का नाम गिरधर नागर के बाद कई बार आया है; 'राम तने रँग राँची। राणा मैं तो सांवलिया रँग राँची रे।' 'राम नाम, बिन घड़ी न सुहावे, राम मिले म्हारा हियरा ठहराय। नन्दनन्दन, गोविन्द, नारायण में तो वैष्णव प्रणाली ही दीखती है पर कबीर अथवा सन्तों की भाँति के रमैया शब्द का भी प्रयोग मीरा ने किया है। जोगी अथवा जोगीरा में गोरख और लोक-वृत्ति दोनों का रूप है।

इन सब में भी मीरा का संकेत उसी अपने मनमोहन गिरिधर नागर की ओर है। कृष्ण के हाथ वे बिक चुकी थीं। उनका इष्टदेव सिर पर 'मोरन की चन्द्रकला' का मुकुट पहनता है, केसर का तिलक लगाता है, कानों में मकराकृत कुण्डल; क्षुद्र

घण्ट किंकनी कटि में। ऐसे कृष्ण पर वे विमोहित हो गयी हैं। कोई अपने इष्ट को राक्षसों का नाश करने वाले रूप में ग्रहण करता है। कोई उसकी मनोरम लीलाओं पर न्यौछावर होता है, किन्तु मीरा में दाम्पत्य रति भाव की भक्ति भासित हो पड़ी है। कृष्ण उसके पति हैं और मीरा स्वकीया पतिव्रता। उन्होंने सूर आदि की भाँति गोपियों का प्रतिनिधित्व नहीं किया वरन् वे स्वयं ही दाम्पत्य भाव से प्रेरित थीं। कृष्ण का सौन्दर्य, रूप, वेश जैसा भी हो वही उनके लिए श्रेष्ठतम है और उसके समक्ष कोई और सौन्दर्य नहीं टिकता। सौन्दर्य को मीरा ने सौन्दर्य के कारण ग्रहण नहीं किया। सौन्दर्य की रूपासक्ति से उनका मन कृष्ण के वश नहीं हुआ। कृष्ण के प्रति किसी पूर्व प्रेम की विद्यमानता के कारण ही उन्हें कृष्ण का सौन्दर्य उतना उत्कृष्ट लगा है। 'गिरिधर म्हारौ सांचौ प्रीतम' यह मीरां ने बताया और तभी कहा 'देखत रूप लुभाऊँ'; यही नहीं, मीरा अनुभव करके राणा से कहती है।

राणा जी म्हारी पीत पुरबलां में कांई करूँ।

यहीं हमें विदित होता है कि मीरा और सूर की गोपियों के प्रेम के धरातल में साधन के कारण भेद उत्पन्न हो गया है। सूर की गोपियों के लिए रूप का आकर्षण पहले, तब प्रेम। मीरा में प्रेम पहले तब रूपासक्ति। गोपियों को कृष्ण की बाललीला, क्रीड़ा, रसरास की स्मृतियों का भी भरोसा था। और उनके विरह में ईर्ष्या भी आ गयी थी। वे परित्यक्ता होकर भी प्रेम का पोषण कर रही थीं। मीरा का प्रेम सहज प्रेम है, पूव प्रेम है। वह जग पड़ा है उन्होंने प्रिय के साथ संयोग का लाभ प्राप्त किया है। "रैण दिना वाके संग खेलूँ

ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ" मीरा में इस संयोग का हार्दिक आनन्द उमड़ा पड़ता है "इन नैनन मेरा साहिब बसता डरती पलक न नाउ री ......सुख की सेज बिछाऊँ री" उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है—

जिनका पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजे पाती !
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती ॥

फिर भी यह संयोग सदा नहीं बना रहा है; वियोग की भावना भी मीरा में है और यही भावना प्रेम की पीड़ा बनकर उनमें विशेष प्रबल और व्याप्त है।

मीरा की प्रेम-पीड़ा में प्रियतम के बिछुड़ने का ही भाव है। उनका किसी और के प्रेम में फँस जाने का नहीं।

यहाँ कुबजा ने अपना कब्जा नहीं दिखाया। इस प्रकार कृष्ण और मीरा में सीधा सम्पर्क है, मीरा कृष्ण के अतिरिक्त किसी को नहीं देख पातीं। उद्धव, सुदामा, राधा, कभी-कभी किंचित काल के लिए उनकी रचना में, उनके मन में, कृष्ण के साथ आये हैं। पर कुब्जा नहीं आ पायी। मीरा की यह अनन्यता धन्य है। मीरा के कृष्ण मीरा से बँधे हैं। उसके प्रेम से बँधे हैं।

मीरा के गीत—मीरा गायिका है। उनकी समस्त रचना गीतों के अथवा पदों के रूप में ही अवतरित हुई है। इस युग में पद-प्रणाली का विशेष प्राबल्य था। जयदेव के गीत गोविन्द से विद्यापति तथा चण्डीदास की वाणी में उतर कर जिसे सूर और तुलसी तक ने अपनाया, मीरा में भी उसी शैली की ओर झुकाव हुआ। किन्तु इन सब से मीरा की धज निराली है। वैष्णव भक्तों के द्वारा पदों में साकार-सगुण कृष्ण-राम का निरूपण हुआ है। सन्त कवियों ने निर्गुण

निराकार का ज्ञान पदों द्वारा प्रकट किया है। वैष्णवों ने जब उसका निरूपण किया तो उनमें या तो भागवत से लिया हुआ कथा-ज्ञान था जैसे सूर आदि में अथवा नागरिक रसिकता का भाव, विद्यापति आदि में। सन्तों में ज्ञान-वादिता के कारण गेय काव्य के गीति रस का प्रायः अभाव ही था। मीरा के गीतों में अतः भागवत-गाथा-ज्ञान का बोझ नहीं मिलता और नागरिक रसिकता का भी अत्यन्त अभाव हो गया है। उनके गीतों में यथार्थ प्रगीतता मिलती है जिसमें सहज लोक-वृत्ति, सहज हृदयोद्गार, जिसमें कहीं भी कठोर अथवा कटु भावों को अवकाश नहीं। कोमल मधुर और करुण ये ही तीन भाव मीरा की वाणी में ओत-प्रोत हैं। इनमें भी सहज स्वाभाविक भाषा, सरल मुहावरा और अत्यन्त साधारण परमार्थिक अलंकार योजना सोने में सुगन्ध का कार्य करती है। पद और गीत लिखते हुए भी सूर में एक प्रबन्ध सूत्रता मिलती है। कम से कम उनके मुक्त पदों में भी कथा भाग का बीज और अंकुर रहता है, किन्तु मीरा में यह भी नहीं। तुलसी के विनय के पदों की भाँति का आत्म-निवेदन भी मीरा में नहीं मिलता। वह राजसी ठाठ और आतंक मीरा में कहाँ। मीरा में विनय नहीं, प्रेम-निवेदन और प्रेम-समर्पण है। इसीलिए उनके गीत कोकिल की एक कूक के समान हृदयों को पार कर जाने वाले हैं। उनमें छन्दः शास्त्र की दृष्टि से कुछ दोष कहीं-कहीं मिलते हैं। किन्तु ऐसा कौन है जो हृदय के संगीत को छन्द के बन्धन में बाँधे। संगीत के स्वर में छन्द सम्बन्धी विषमता स्वतः ही विलीन हो जाती है।

मीरा के गीतों में पांडित्य नहीं है, हृदय के सहज उद्गार हैं। उसने पण्डितों के लिए नहीं लिखा वरन् जन साधारण

के लिए। उसके गीत सच्चे अर्थ में लोक-गीत कहे जा सकते हैं। लोक-गीतों की शैली में एक तो यह वृत्ति होती है कि अन्त में कुछ शब्द स्वर साधने के लिए रहते हैं। जैसे मीरा के इस पद में 'राम नाम मेरे मन राम रसिया, रिझाऊँ, रिझाऊँ ओ माय।' यह प्रभाव प्रत्येक चरण के अन्त में मिलता है। कहीं-कहीं 'म्हारो महाराज' शब्द आरम्भ के सुर का आरम्भ बनाया जाता है। जैसा मीरा ने लिखा है—
'हो जी म्हाराज छाँड़े मत जा ज्यो।'

काव्य सौन्दर्य—मीरा के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि वह भक्त पहले थीं या कवि। कारण यह है कि उनकी भक्ति में और काव्य में कोई अन्तर नहीं। उनका प्रत्येक पद एक सहज काव्य से युक्त है, और अलंकार-योजना अत्यन्त मार्मिक हुई है। अधिकांश अलंकार प्रायः सादृश्य मूलक हैं जिनमें से भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा प्रधान हैं, उक्ति-प्रधान अलंकारों का समावेश कम है। शब्दों का सौन्दर्य मीरा में है तो अवश्य पर वह उतना अनुप्रास, यमक आदि के आश्रित नहीं। वह शब्दों की सुचारु ध्वनि संतुलना पर निर्भर करता है। इस शब्द-सौदर्य का एक उदाहरण यह है :—

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागीरी।
तलफत-तलफत कल न परत है बिरह बाण उर लागीरी॥
निसदिन पन्थ निहारूँ पीय कौ पलक न पल भरि लागीरी।
बिरह भवँग मेरो डस्यो है कलेजा लहरि हलाहल जागीरी॥

शब्दों ने स्वयं अपनी ताल-गति से युक्त अपनी रुनझुन का समां इस करुणा के प्रवाह में बाँध रखा है। इन शब्दों के

सहज और मूल सौन्दर्य के आगे अनुप्रास और यमक का विन्यास कितना कठोर और उद्वेगकारी लगेगा।

मीरा का यथार्थ काव्य-सौन्दर्य भावमय उक्तियों में है जो किसी शास्त्रीय अलंकार-विधान में नहीं बाँधी जा सकतीं। मीरा के साजन घर आये हैं पर वह अभागिनी सो रही है, साजन चले गये, अब दुःख का क्या कहना;

मैं जान्यौ नाहिं प्रभु को मिलण कैसे होइरी।
आये मेरे सजना, फिरि गये अँगना, मैं अभ-गण रही सोइरी ॥
अब फारूँगी चीर करूँ गल कंथा रहूँगी वैरागण होइरी।
चुरियाँ फोरूँ, माँग बिखेरूँ कजरा डारूँ धोइरी ॥

बङ्गाल के ही नहीं विश्व के मर्मी कवि रवीन्द्र को मीरा ने प्रभावित किया है। उपरोक्त पंक्ति में जो भाव है उस पर ही रवीन्द्रका भी एक गीत है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'गार्डनर' नामक रचना का भाव भी मीरा के एक पद से लिया है ऐसा माना जाता है-वह पद यह है—

मने चाकर राखो जी मने चाकर राखो जी
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिन्द्रावन की कुञ्जगलिन में तेरी लीला गासूँ ॥
चाकरी में दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची ॥
भाव भगति जागीरी पाऊँ तीनों बातां सरसी ॥
× × × ×
आधी रात प्रभु दरसन दैहैं प्रेम नदी के तीर ॥

इन मर्मस्पर्शी भाव सूक्तियों ने मीरा का साहित्य में एक अद्वितीय स्थान बना दिया है। उसके काव्य का सौन्दर्य सीप से निकले मोती जैसा है।

तुलसीदास

"उसका नाम न तो आईन-ए अकबरी में ही मिलेगा, किसी मुसलिम इतिहासकार के पृष्ठों में; न फारसी इतिहासकारों

के वर्णनों के आधार पर लिखी गयी यूरोपियन लेखकों की पुस्तकों में ही मिलेगा। फिर भी वह हिन्दू अपने युग का भारत में सब से महान मनुष्य था—स्वयं अकबर से भी महान; किमधिकम, कवि ने कोटिशः पुरुषों और स्त्रियों के हृदयों और मस्तिष्कों पर विजय प्राप्त की थी, यह विजय युद्ध में सम्राट द्वारा उपलब्ध किसी भी अथवा सभी विजयों से अनन्ततः अधिक स्थायी और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी।" यह लिखा है इतिहासकार विंसेण्ट स्मिथ ने तुलसीदास के सम्बन्ध में। यह कथन अक्षरशः सत्य है। तुलसी ने जन-जन के मन को अपने काव्य से पूर्णतः वशीभूत कर लिया है, वह अपने युग का ही नहीं, युग-युग का महान व्यक्ति है।

इस महानता का रहस्य क्या है, इसका मूल स्रोत क्या है? तुलसीदास ने एक दोहे में कहा है:

रामनाम मणि दीप धर जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरै जो चाहसि उजियार॥"

तुलसी ने यही मणि धारण करके बाहर और भीतर प्रकाश प्राप्त किया था। किन्तु यह रामनाम भी तुलसी को कहाँ से मिला था? जहाँ से यह बाहर-भीतर प्रकाश करने वाला मणि-दीपक तुलसी को मिला था, वहीं से उन्हें महानता की प्रेरणा मिली थी। वह था लोक-जीवन। तुलसी के जीवन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट विदित होता है कि बाल्यावस्था में ही वे लोक-जीवन से घुलेमिले रहे थे, और इस घनिष्ठता को वे अन्त तक बनाये रहे।

यह प्रसिद्ध है कि इनके माता-पिता ने इन्हें बाल्यावस्था में ही त्याग दिया था। कवितावली में स्वयं तुलसीदास जी ने लिखा है:

"मातु-पिता जग जाइ तज्यौ,
विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।"

माता-पिता ने इन्हें क्यों त्याग दिया? कोई माता-पिता इतने कठोर कैसे हो सकते हैं? एक ओर कबीर जैसे महा-पुरुष के जीवन पर दृष्टि जाती है तो विदित होता है कि 'नीमा' और 'नीरू' किसी पराये बालक को स्नेह से अपने पुत्र की भाँति पालते हैं, दूसरी ओर तुलसीदास के माता-पिता के लिए कहा जाता है कि उन्होंने तुलसी को त्याग दिया। इस त्याग को सिद्ध करने के लिए यह कल्पना की जाती है कि तुलसीदास जी अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा हुए थे। किन्तु यह सब कल्पना है। इस माता-पिता के त्याग का रहस्य स्वयं तुलसीदास जी ने विनय-पत्रिका के एक पद में खोल दिया है—उनके शब्द हैं।

तनु जन्मौ कुटिल कीट ज्यौं तज्यौ मातु-पिता हू

कुटिलकीट जिस प्रकार जन्म देकर मर जाता है, उसी

प्रकार तुलसी के माता-पिता तुलसी को बाल्यावस्था में ही 'विललात' छोड़ गये।

कवितावली की ये पंक्तियाँ तुलसी की इस अवस्था का करुण चित्र देती हैं—

जायौ कुल मंगन बधावनों बजायौ
सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को
बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार हीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

बाल्यावस्था में द्वार-द्वार पर भीख किसी बालक को तभी माँगनी पड़ सकती है जब माता-पिता न रहें। भिखारी भी कभी अपनी संतान को 'ललात बिललात' भीख माँगने के लिए नहीं छोड़ सकता। माता-पिता-हीन बालक ही इस प्रकार भटक सकता है। ऐसा ही बालक गृह-विहीन होकर किसी मन्दिर या धर्मशाला में पड़ रहता है। तुलसीदास गृह-विहीन होकर अवश्य किसी हनुमान-मन्दिर में जा पड़े होंगे और वहीं टूक माँग-माँग कर अपना उदरपोषण करते होंगे। हनुमान जी की इस कृपा के प्रति तुलसी ने भूरि-भूरि कृतज्ञता प्रकट की है—

बालक बिलोकि बलि बारे ते आपनौ कियौ

[हनुमान बाहुक में]

हनुमान-मन्दिर में आश्रय प्राप्त करने के उपरान्त तुलसीदास ने द्वार-द्वार भटकना और भीख माँगना छोड़ दिया।

टूकनि कों घर-घर डोलत कंगाल बोलि
बाल ज्यौं कृपाल नतपाल पालि पोसौ है।"

हनुमान जी की शरण में आने पर द्वार-द्वार भीख माँगने

की आवश्यकता नहीं रह गयी, क्योंकि हनुमान के नाम की समर्पित खोंची अथवा महावीरी से ही जीवन-यापन का साधन जुट जाता था—

"खायो खोंची माँगि तेरो नाम लियारे
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जियारे।"

[विनयपत्रिका]

तुलसी जैसे महाकवि की इस बाल्यावस्था के दुःख और कष्ट की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस महापुरुष ने इस बाल्यावस्था में ही अपनी आस्तिक-बुद्धि का परिचय दिया। हनुमान जी के आश्रय में उन्हीं के भरोसे तुलसी ने अपने जीवन को सुरक्षित रखा।

इसी बाल्यावस्था में जब तुलसी 'बारे' अथवा अबोध ही रहे होंगे इन्हें कोई अच्छे गुरु मिल गये। यह सत्य है कि बिना गुरु के सच्चा मार्ग नहीं मिल सकता। तुलसी का सौभाग्य ही था कि उन्हें बचपन में ही सदगुरु मिल गये—इन्होंने बचपन में ही तुलसीदास को राम-कथा सुनाई थी—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत

किन्तु गुरु ने वही राम कथा बार-बार कही, बारबार कही—और तुलसी को भी तब वह समझ में आने लगी। यही नहीं, गुरु ने तुलसी से स्पष्ट कह दिया—

बहुमत सुनि गुनि पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यौ राम भजन नीको मोहि लागत राज गरो सो॥ (वि॰ प॰)

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' तुलसी होनहार थे। गुरु के वचनों से इन्हें प्रकाश मिला। रामरूपी मणि दीप

को देहरी द्वार पर रख कर तुलसी ने अपने भीतर और बाहर का मार्ग प्रशस्त कर ही लिया। राम कथा तुलसी के जीवन की मूलाधार बन गयी।

सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

सियाराम की भक्ति से अभिभूत होकर और उन्हें समस्त जगत में व्याप्त देख कर तुलसी समस्त जगत को ही दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम कर उठे। अपने इष्टदेव के नाते जिस महाकवि ने समस्त जगत को अपना इष्ट और अपने से महान् स्वीकार किया, वह इसी छोटेपन की भूमि पर खड़ा होकर महान् बना।

तुलसी के जीवन में दो बातें विशेषत: प्रभावित करती हैं, अनन्यता और उदारता। उनकी अनन्यता का रूप उन के चातक वर्णन में मिलता है। चातक स्वयं तुलसीदास हैं—

"........राम घन श्याम हित चातक तुलसीदास" इस चातक तुलसीदास की अनन्यता की एक ही माप थी। वह यह कि—

पंख काटु टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥

चातक को अपनी ओर ही देखना है। उसकी ओर से कोई चूक नहीं होनी चाहिए। मेघ कुछ भी करे, उसे कितना ही कष्ट दे, पीड़ा दे, उसके पंखों को उपल-वृष्टि से टूँक-टूँक कर दे पर चतुर चातक को क्षोभ तक न हो, वह तो वही देखे कि उसका प्रेम तो अक्षुण्ण है—नहीं, वह प्रेम निरन्तर बढ़ना ही चाहिये।

"रटत-रटत रसना लटी तृषा सूखिगे अंग"

यह प्रेम का रंग तो और भी गहरा होता रहा—

'तुलसी चातक प्रेम कौ नित नूतन रुचि रंग'

यही अनन्यता का आदर्श तुलसी के जीवन में हमें व्याप्त मिलता है। उन्होंने किसी का अनादर नहीं किया, सभी को उन्होंने सियाराममय समझा। सभी देवी-देवताओं का स्मरण करते हुए, उनका गुणगान करते हुए भी उन्होंने राम की भक्ति ही माँगी।

वे काशी में रहते थे। उस काशी में जो शिव की नगरी थी। वहाँ शिवभक्तों से इन्हें अवश्य ही कष्ट मिला। तुलसी और उनके राम की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा शिव-भक्त सहन नहीं कर सके होंगे तभी उन्होंने तुलसीदास को सताना आरम्भ किया होगा। पर अनन्य भक्त तुलसीदास अपने पथ से विचलित नहीं हुए।

उनकी अनन्यता की विजय उनकी उदारता के कारण हुई। उनका जीवन और उनकी रचनाएँ इस उदार भावना से ओतप्रोत हैं, तभी लोग उन्हें समन्वयवादी कहते हैं।

तुलसी की इसी उदारता ने उनसे कहलाया—

शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा॥

और इसी उदारता से वे और उनके राम विजयी हुए। उनकी अनन्यता अविचल रही।

राम के प्रति इस अनन्यता में कुछ व्याघात कुछ काल के लिए पड़ा प्रतीत होता है। तुलसी का विवाह हुआ। यह विख्यात है कि ये अपनी स्त्री को बहुत प्रेम करते थे। वह एक दिन चुपचाप अपने मायके चली गयी। तुलसीदास बाहर से लौटे तो वे भी स्त्री की खोज में उसके मायके पहुँचे। वहाँ स्त्री ने इनसे कहा—

अस्थि चरममय देह मम तासों इतनी प्रीत
ऐसो जो सियाराम में होति न तौ भवभीति ॥

इन शब्दों ने उद्बोधन का काम किया और तुलसी-दास जी के अन्तर्नेत्र खुल गये। वे अपनी स्त्री को त्यागकर चल पड़े। गृहस्थाश्रम से उन्होंने सदा के लिए वैराग्य ले लिया। राम-भक्ति से उनके जीवन का जो गहरा सम्बन्ध पहले हो चुका था, वह फिर जागृत हो उठा और वे अब नयी स्फूर्ति के साथ राम-गुण-गान में संलग्न हो गये।

अब उन्होंने राम को साहित्य और संगीत में रमा दिया। तुलसीदास जी ने 'रामाज्ञा प्रश्न' लिखा, 'रामचरित मानस' की रचना की। पार्वती मंगल, दोहावली, कवितावली, बरवै, विनय पत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली, जानकी मंगल, नहछू और वैराग्य संदीपनी आदि रचनाएँ प्रेषित कीं। सभी में रामचरित्र व्याप्त है, सभी रचनायें सियाराममय हैं।

तुलसी का रामचरित मानस एक महान ग्रन्थ है। इसे पुराण-काव्य कह सकते हैं, क्योंकि कवि ने उस समय प्रचलित समस्त पौराणिक ज्ञान पौराणिक शैली में रामचरित के सहारे इस ग्रन्थ में गूँथ दिया है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ हिन्दुओं का कण्ठहार बन गया। रामचरित मानस की कथा भगवान् रामचन्द्र के जीवन की कथा है; उनके विवाह और बनवास की कथा है। आदि से अन्त तक त्याग के उपदेश से परिपूर्ण। राम छोटे हैं, दशरथजी उन्हें बहुत प्रेम करते हैं, उन्हें आँखों से ओझल नहीं करना चाहते पर मुनि विश्वामित्र के माँगने पर वे राम-लक्ष्मण को उनके साथ कर देते हैं। दशरथ को अपने इस त्याग का शुभ फल मिलता है राम बहुत सी विद्या सीख लेते हैं, और स्वयम्वर में सीता को प्राप्त कर लेते हैं।

तब राज्याभिषक का अवसर आता है। दशरथ राम का राजतिलक करना चाहते हैं, पर कैकेयी को दिये वरदान के कारण राम को चौदह वर्ष का बनवास देने को विवश होते हैं। भरत को राज्य दिया जाता है। राम प्रसन्नता पूर्वक राज्य त्यागकर बन को जाते हैं। भरत जी भी राज्य त्याग देते हैं, वे राम के अधिकार को कैसे ले सकते हैं। राम की खड़ाउओं को सिंहासनासीन कर, भरत तपस्वियों की भाँति राज्य संचालन करते हैं। लक्ष्मण का जीवन तो त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है—त्याग का ही नहीं, सेवा का भी। सेवा का ऐसा ऊँचा आदर्श और कहाँ है? रामचरित मानस के सभी उज्ज्वल चरित्र त्याग की श्री से अभिमण्डित हैं। त्याग और सेवा के भाव से ओत-प्रोत इस ग्रन्थ ने हिन्दी-साहित्य को भक्ति और ज्ञान की धार्मिक समन्वयता की भावना ही प्रदान नहीं की, मानव जीवन की महानता का वास्तविक मूलमन्त्र भी प्रस्तुत कर दिया। तुलसी के जीवन से ही नहीं उनकी रामकथा से आज हमें त्याग और सेवा का ही सन्देश सीखना है। इसी के अभाव में हमारा पतन हो रहा है।

इस महापुरुष का अवसान सम्वत् १६८० में हो गया। जीवन के अन्तिम दिनों में इन्हें बाहु पीड़ा और बरतोड़ जैसी बीमारियों के कारण घोर कष्ट उठाना पड़ा था। इस कष्ट को कवि ने जहाँ-तहाँ अपनी रचनाओं में प्रकट किया है, क्योंकि यह कवि औषध से अधिक भगवान की कृपा में विश्वास रखता था, अतः उन्हीं से अपनी कष्ट-कथा कहकर उसके निवारण की याचना करता था। मानव समाज का एकमात्र हितचिन्तक भगवान् राम का अनन्य भक्त तुलसी धन्य है। उनकी रचना रूपी सुर-सरिता पाठकों को सदा पावन करती रहेगी। तभी नाभादास जी ने लिखा—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीकि तुलसी भये।

उस युग में जितनी भी शैलियाँ सहित्य में प्रचलित थीं प्रायः सभी में इन्होंने अपने राम को पहुँचा दिया। जानकी मंगल तथा रामलला नहछू लोकवार्त्ता के गीत हैं, रामचरित मानस प्रेमगाथा पारपाटी के दोहा-चौपाई की प्रणाली में, पद-शैली में गीतावली लिखी, तथा विनयपत्रिका भी। बरवै छन्द में बरवै, दोहों में दोहावली आदि।

राम में मानवीय तथा ईश्वरीय तत्वों का बड़ा सुन्दर संयोजन किया गया है। माता पिता-कुटम्बियों के समक्ष वे साधारण मानव हैं, वैदिक ऋषियों के समक्ष भी वे अपने ईश्वरत्व को अप्रकट रखते हैं, भक्तों के सामने वे अपना आवरण हटा देते हैं।

तुलसी ने लोक-संग्रह पर ही ध्यान दिया है, और राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की ही प्रतिष्ठा की है। भारतीय संस्कृति में जो भी उत्कृष्ट है, उस सबको रामचरित के द्वारा इन्होंने प्रस्तुत कर दिया है। भारत के जीवन के व्यक्ति और समाज सभी के लिए सभी स्थितियों में अपेक्षित सत्य और संदेशों का निरूपण किया है, और इस समस्त निरूपण का धरातल शुद्ध मानवीय है, उसमें कुछ भी साम्प्रदायिक नहीं।

तुलसी सगुणोपासक हैं। तुलसी का सगुणवाद भी प्राचीन भारतीय शास्त्रों के आधार पर है। वह सगुण और निर्गुण में कोई विशेष अन्तर नहीं समझते। जो निर्गुण है वह सगुण रूप धारण कर लेता है। इसे समझने के लिए उन्होंने जल और हिम का उदाहरण लिया है। जल और हिम का अन्तर केवल द्रवत्व और घनत्व के कारण है। उनके 'राम' अद्वैत निर्गुण सगुण से ऊपर परब्रह्म के रूप हैं, वे 'भगत,

भूमि, भूसुर सुरभि' के हितार्थ सगुण हो गए हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुण बोधगम्य नहीं और न ध्यान-गम्य है। सगुण का ध्यान रखना सहज है। इसी कारण सगुणोपासना को इन्होंने प्रधानता दी है। जितने भक्त महानुभावों का वर्णन इन्होंने किया है, उन सभी को सगुणोपासक ही रक्खा है, यथा—शिव, कागभुशुण्ड, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि। अपनी सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढंग से किया है। रामचरित-मानस में नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हें उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं।

नाम रूप दुइ ईस उपाधी।
अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥

नाम रूप गति, अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥

उन्होंने राम को कहीं-कहीं विष्णु के रूप में भी दिखा दिया है यद्यपि वे उन्हें उस देवत्रयी से ऊँचा ही समझते थे।

शास्त्रीय साहित्यिक को भी तुलसीदास पूर्णतः सन्तुष्ट कर देते हैं। अलंकारों की छटा से समस्त काव्य जगमगा रहा है। रस-परिपाक में कवि सिद्धहस्त है, सभी रसों का समावेश यथास्थान हुआ है। शृंगार रस का तो अत्यन्त भव्य तथा शीलयुक्त परिपाक हुआ है। ज्ञान और भक्ति का दार्शनिक प्रतिपादन भी अभूतपूर्व है। तुलसी के पाण्डित्य पर मुग्ध होना पड़ता है।

भाषा पर कवि को पूर्ण अधिकार है। विषयानुकूल भाषा का उपयोग किया है। रामचरित मानस में पारमार्जित संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक अवधी, गेय रचनाओं में, कवित्तों-सवैयों में ब्रजभाषा तथा लोकगीतों में बोल-चाल की अवधी।

———

केशवदास

कवि होने के लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि संत या महात्मा ही हुआ जाय। संतों और महात्माओं के काव्य में जीवन और कल्पना, काव्य और आचार एक हो जाते हैं। कबीर ने जो कहा वही काव्य था, और वही उसका जीवन था। सूर के काव्य से सूरदास के जीवन का तादात्म्य था। उनका काव्य कृष्णमय था, वे स्वयं कृष्णमय थे। तुलसी ने सब कुछ स्वान्तः सुखाय ही लिखा। उन्होंने अपने जीवन को इतना व्यापक बना लिया था कि संसार का अणु-अणु उनके अपने जीवन का ही अंग था, अतः उनका प्रत्येक शब्द स्वान्तः सुखाय होते हुए भी ठेठ 'परिहिताय' भी हुआ। किन्तु केशव-दास का नाम उन महाकवियों में अग्रगण्य है जिन्होंने काव्य और जीवन के इस तादात्म्य को पृथक कर दिया। उन्होंने काव्य को एक कला-विलास के रूप में ग्रहण किया, और उसमें महानता सिद्ध की। काव्य-कला का पाण्डित्य परक रूप संस्कृत में बहुत पहले से प्रतिष्ठित था। केशव ने उसी परंपरा में हिन्दी को अपनी रचनायें भेट कीं—इसीलिए केशव महाकवि हैं, और अग्रगण्य हैं।

केशव का घराना पांडित्य के लिए प्रसिद्ध था। आज तक 'शीघ्र बोध' नाम की व्याकरण संस्कृत-शिक्षा की आवश्यक सोपान का काम देती है। शीघ्रबोध के कर्त्ता पं० काशीनाथ हैं। यही पण्डित प्रवर काशीनाथ मिश्रजी केशवदास के पिता

हैं। केशवदास ने अपने घराने के इस पाण्डित्य का गर्व के साथ उल्लेख किया और अपने भाषा-कवि होने पर ग्लानि भी दिखायी है—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास॥

जिस घराने के सेवक भी संस्कृत बोलते हैं, उस घराने के पांडित्य का क्या अनुमान लगाया जा सकता है! अतः मंदमति केशव का यह साहस ही माना जायगा कि उसने अपने घराने के संस्कृत के पण्डित्य को भाषा में उतार दिया। इससे केशव की प्रगतिशीलता भी सिद्ध होती है। समय के तकाजे की उपेक्षा इस युग का सम्राट् अकबर नहीं कर सका, अकबरी दरबार हिन्दी कविता के लिए प्रसिद्ध था, और केशवदास भी नहीं कर सके।

केशवदास सनाढ्य थे। इन्हें अपने सनाढ्य होने का गर्व था। इन्होंने अपने कुल की प्रशंसा में लिखा है—

'सनाढ्य वंश गुनाढ्य है'

इस सनाढ्य वंश में केशव का जन्म चैत्र सं० १६१८ में ओरछा में हुआ। ओरछा केशव को प्रिय था—उन्होंने 'ओरछा' की प्रशंसा यों की है—

नदी बेतवै तीर जहँ तीरथ तुङ्गारन्य।
नगर ओड़छो बहु बसै धरनी-तल में धन्य॥
केशव तुंगारन्य में नदी वैतवै-तीर,
नगर ओड़छा बहु बसै पंडित-मंडित भीर॥

ओड़छे-तीर तरंगिनि बेतवै, ताहि तटै नर 'केशव' को है।
अर्जुन बाहु-प्रवाहु-प्रबोधित, रेवा ज्यों राजन की रज मोहे॥

जोति जगै जमुना-सी लगै, जगलाल विलोचन पाय विधो है।
सूर-सुता सुभ संगम तुंग तरंग तरंगित गंग-सी सोहै॥

केशव की दृष्टि में ओरछा और बुन्देलखण्ड अपने प्राकृतिक वैभव के कारण भी चढ़ा होगा, किन्तु उनके पांडित्य ने उसकी उस प्राकृतिक शोभा को काव्य में नहीं आने दिया। वे उसके पौराणिक महत्त्व से फूल उठे हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि ओरछा में इस समय पंडितों का जमघट रहता होगा, और काव्य-कला की प्रतिष्ठा होगी, तभी राय प्रवीन जैसी पातुरों को भी साहित्य की शिक्षा ग्रहण करने का चाव हुआ था।

केशवदास ओरछा में ओरछा-नरेश मधुकरशाह के पुत्र दूल्हराम के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के आश्रित रहते थे। प्रतीत होता है कि आरम्भ में केशवदास अन्य पण्डितों की भाँति प्रायः दरिद्र ही थे। इनका दारिद्रय बीरबल के अनुग्रह से कटा।

केशवदास के भाल लिख्यौ विधि, रंक कौ अंक बनाय सँवारयौ;
छोड़े छुट्यौ नहिं धोए धुयौ, बहु तीरथ के जल जाय पखारयौ।
ह्वै गयौ रंक ते राउत ही, जब वीर-बली बलबीर निहारयौ।
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यौ मुख चारयौ॥

इस दरिद्र-मोचन की एक कहानी है। कहानी ऐतिहासिक है, रायप्रवीन इन्द्रजीत की गणिका थी, किन्तु पतिव्रता थी। वह लावण्यवती थी। अकबर अपने दरबार के लिए ऐसी लावण्यवती गणिका को शोभा की वस्तु समझता था। अकबर ने उसे बुलवाया। रायप्रवीन के लिए यह संकट का काल था। वह इन्द्रजीत के अतिरिक्त किसी दूसरे की नहीं हो सकती थी। केशवदास इस रायप्रवीन के काव्य गुरु थे।

उनके परामश से रायप्रवीन ने इन्द्रजीत के समक्ष यों निवेदन किया—

आई हौं बूझन इन्द्र तुम्हें, निज सासन सौं सिगरी मति धोई।
देह तजौं कि तजौं कुल कानि, हिये न लजौं लजिहै सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ को गथ चित्त विचारि कहौ अब सोई।
जामें रहै प्रभु की प्रभुता, अरु मोर पतिव्रत भंग न होई॥

जहाँ वेश्या होते हुए भी रायप्रवीन का यह पातिव्रत्य प्रशंसनीय है, वहाँ केशव का परामर्श भी कम श्लाघ्य नहीं, फिर इन्द्रजीतसिंह का साहस भी कम नहीं था। उन्होंने रायप्रवीन को अकबर के दरबार में नहीं भेजा, आखिर नहीं भेजा। तब तो अकबर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने इन्द्रजीत-सिंह पर एक करोड़ रुपया जुरमाना कर दिया। एक करोड़ भला इन्द्रजीतसिंह कहाँ से लाते। इन्द्रजीतसिंह की सहायता के लिए केशव आगे आये। वे आगरा गये और अपने कवित्व बल पर विश्वास करके बीरबल के पास पहुँचे—पहुँचते ही सुनायाः—

पावक, पंछी, पसू, नर, नाग, नदी, नद, लोक रचे दसचारी,
केशव देव, अदेव रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी।
कै बर-बीर बली बलवीर, भयो कृतकृत्य महा व्रतधारी।
दै करतापन आपन ताहि, दई करतार दुवौ कर तारी॥

इस कवित्त पर बीरबल लटटू हो गये। उन्होंने वह एक करोड़ का जुर्माना तो माफ करा ही दिया, केशव को भी छः लाख की हुण्डियाँ पुरस्कार में दे डालीं। तभी केशव ने वह कवित्त और सुनाया—

'केशवदास के भाल लिख्यौ विधि
रंक को अंक बनाय सँवारयौ।'

इतना दे डालने पर बीरबल को सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने केशव की इस कविता को सुनकर कहा, और माँगो।

केशवदास भी अवसर चूकने वाले नहीं थे। उन्होंने माँगा पर क्या माँगा ? मणि रत्नों का समूह—'गज धन, हय धन, बाजिधन, और रतन धन खानि'—या राज्य माँगा ! नहीं, केशव ने एक दोहे में अपनी यह माँग जड़ दी है।

यों ही कह्यौ जु बीरबल मांगु जु मांगन होय।
माँग्यौ तुव दरबार मैं मोहिं न रोके कोय॥

प्रतिष्ठा ! महाकवि केशव ने प्रतिष्ठा माँगी। बीरबल के यहाँ केशव को प्रतिष्ठा मिली और इसके उपरान्त इन्द्रजीतसिंह के यहाँ भी केशव को प्रतिष्ठा, स्नेह और धन सब कुछ मिला—तभी 'रसिक प्रिया' की भूमिका के रूप में लिखे गये दोहे में केशव ने बताया है—

'तिन (इन्द्रजीतसिंह ने) कवि केशवदास सो कीन्हों धरम सनेहु।
सब सुख दै कै यह कही, रसिक प्रिया करि देहु॥

और तभी इन्होंने इन्द्रजीतसिंह के जीवन की कामना करते हुए यह आशीर्वाद दिया।

भूतल कौ इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुग-जुग
जाके राज केसौदास राज सौ करत है।

केशवदास ने अपने काव्य-बल से अपने स्वामी का ही हित नहीं किया, अपनी प्रतिष्ठा भी सम्पादित की।

केशवदास को कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता है।

यह शायद इसलिए कहा जाता है कि इनकी रचना अत्यन्त क्लिष्ट है। किन्तु इसी 'प्रेत' शब्द से केशव के प्रेत होने की भी एक किम्बदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि इन्द्रजीतसिंह ने यह विचार कर कि उनकी तत्कालीन विद्वन्मण्डली अमर हो जाय केशवदेव के परामर्श से प्रेत-यज्ञ किया। इसके फलस्वरूप पूरी की पूरी मण्डली प्रेत हो गयी। केशवदास भी प्रेत हो गये। ये एक कुएँ में रहने लगे। इन्हें प्रेत-योनि पसन्द नहीं आयी। एक बार तुलसीदास जी वहाँ होकर निकले। केशव वाले कुए में से पानी निकालने के लिए लोटा डाला। केशव ने पकड़ लिया और तुलसीदास जी से प्रेत-योनि से मुक्त होने का मार्ग पूछा। तुलसीदास ने कहा रामचरित्र गाओ। तब केशवदास ने रामचन्द्रिका बनायी। केशवदास को इससे प्रेतयोनि से मुक्ति मिल गयी। कुछ कहते हैं कि तुलसी-दास ने उन्हें रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ करने का परामर्श दिया। यह केवल कथा ही प्रतीत होती है।

केशव के लिखे १० ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनमें से दो तो अभी तक अप्राप्त हैं। एक कोई पिंगल ग्रन्थ है, दूसरा राम-अलंकृतमंजरी है। शेष ग्रन्थों में 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'बीरसिंह देव चरित्र', 'नखशिख' साधारण कोटि के हैं। प्रशंसनीय रचनाएँ रतन-बावनी, रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया, रामचन्द्रिका तथा विज्ञान गीता मानी जाती हैं। 'रतन-बावनी' में वीर रस का परिपाक हुआ है। इन्द्रजीतसिंह के बड़े भाई रत्नसिंह के युद्ध का वर्णन है। 'रसिक-प्रिया' में 'रस' का विवेचन और 'रस राज' शृङ्गार का प्रतिपादन है। नायक-नायिका भेद भी इसका एक अंग है। इसमें दोहों में लक्षण दिये गये हैं, कवित्त-सवैयों में उदाहरण। आगे के रीति-

कालीन हिन्दी आचार्यों ने जिस परिपाटी का अनुसरण किया उसका विधान केशवदास ने 'रसिक प्रिया' के द्वारा किया। 'कवि-प्रिया' अलंकार ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों का लक्षण तथा उदाहरण सहित निरूपण किया गया है। यह कवि अलंकारवादी है, और अलंकारहीन काव्य को काव्य मानने के लिये प्रस्तुत नहीं—इन्होंने यह कहा है।

"जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त,
भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त।"

इन शास्त्रीय रचनाओं में कवि ने संस्कृत के आचार्यों का अनुसरण किया है। दंडी के काव्यादर्श, अमर की काव्य-कल्पलता वृत्ति, केशव मिश्र के अलंकार शेखर पर इन्होंने विशेष निर्भर किया है।

रामचन्द्रिका इनका प्रबंध महाकाव्य है। इसमें राम-चरित्र का वर्णन है। यह 'वाल्मीकि' के आधार पर लिखा गया है। विविध छन्दों का उपयोग है। आरम्भ छोटे से छोटे छन्द से हुआ है, अधिकांशतः वर्णिक वृत्त हैं। आरम्भ को देखकर तो ऐसा विदित होता है कि कवि 'पिंगल' की रचना के लिए उदाहरण रच रहा है। अलंकार तो कवि की दृष्टि में काव्य की आत्मा ही हैं अतः उनकी प्रचुरता तो होनी ही चाहिए। रामचन्द्रिका में केशव का पांडित्य पूर्णतः झलकता है। फलतः इन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा गया। इसी कारण प्रबन्ध-सौष्ठव में कुछ कमी आ गयी है। विद्वानों का कहना है कि केशव ने रामचन्द्रिका में कलापक्ष का अच्छा वैभव दिखाया है, किन्तु हृदयपक्ष संकुचित रहा है।

केशव महाकवि हैं, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। अलंकारों पर ऐसा अधिकार, वर्णनों की विशदता तथा

प्रचुरता, संवादों की प्रभावशालिता आदि बातें ऐसी हैं जिनके कारण लाला भगवानदीन जी का यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

"केशव का स्थान हिन्दी-साहित्य-संसार में बहुत ऊँचा प्रमाणित होता है। पांडित्य में वह चंद, सूर, तुलसी से कम नहीं जँचते, लोकानुभव में भी कम नहीं। काव्य शास्त्र-ज्ञान के तो वे आचार्य ही ठहरे।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

'दुरंगी' का समय था :

"आधे पुराने पुरानहिं माने
आधे भये क्रिस्तान हो दुइरंगी,
या तो गदहा को चना चढ़ावैं
कि होई दयानन्द जाँच हो दुइरंगी"

ऐसे ही समय में भारतेन्दु जी का जन्म हुआ था। यह 'दुरंगी' भारतीय संस्कृति और अंग्रेजी-संस्कृति संघर्ष के कारण थी। इस संघर्ष का उग्ररूप १८५७ के गदर में प्रकट हुआ था। उस समय भारतेन्दु जी सात वर्ष के लगभग होंगे। इनका जन्म ६ सितम्बर को हुआ था, सम्वत् १६०७ की ऋषि पंचमी को। ऋषि पंचमी वैदिक और जैन मतों में एक पवित्र दिवस माना जाता है, तभी भारतेन्दु जी ने 'एक कहानी कुछ आप बीती

कुछ जग बीती' नाम की अधूरी आत्मकहानी में लिखा था—'मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन तथा वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है।' ऐसे पवित्र दिन जन्म ग्रहण करने वाले बालक हरिश्चन्द्र ने अपने लघु जीवन में ही साहित्य

में युग बदल कर दिखा दिया। इसीलिए ये भारतेन्दु कहलाते हैं, इसीलिए ये युग प्रवर्त्तक हैं।

इनका जन्म अग्रवाल कुल में हुआ था। ये इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। इनके पिता भी कवि और नाटककार थे। कविता में ये अपने उपनाम 'गिरिधरदास' की छाप रखते थे। माता का नाम पार्वती देवी था। इनकी माँ इन्हें पाँच वर्ष का छोड़कर स्वर्गगामिनी हो गयीं। इनके पिता इन्हें दस वर्ष का छोड़ गये। दस वर्ष की अवस्था में ये माता-पिता-विहीन हो गये। तेरह वर्ष की अवस्था में सम्वत् १६२० में इनका विवाह होगया। इनकी पत्नी का नाम मन्नोदेवी था।

माता-पिता-विहीन बालक की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध होना कठिन ही होता है। भारतेन्दु जी ने घर पर तो पढ़ा-लिखा ही, कीन्स कालेज में भी दो-तीन वर्ष पढ़ायी की। कालेज में शिक्षा प्राप्त करने का क्रम अधिक न चल सका। कालेज छोड़कर इन्होंने स्वयं ही अध्ययन किया। इस प्रकार घर पर ही हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया। शिक्षा के सम्बन्ध में परिस्थितियाँ संतोषजनक नहीं थीं,; किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति क्या कभी परिस्थितियों की अड़चन से रुके हैं। भारतेन्दु जी ने इन स्थितियों में भी बीस-बाईस भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान तो इन्होंने योंही चलते-फिरते ही प्राप्त कर लिया था। बँगला भाषा का ज्ञान प्राप्त करने की एक घटना का स्वयं भारतेन्दु जी ने यों उल्लेख किया है—

"ग्यारह वर्ष की अवस्था में हम जगन्नाथ जी गये थे,

मार्ग में व मान में 'विधवा-विवाह' नाटक बङ्ग, भाषा में मोल लिया, सो अटकल से ही उसको पढ़ लिया।

इसके बाद सभी जानते हैं कि भारतेन्दु जी ने बँगला से अनुवाद करके भी हिंदी के भंडार को भरा।

पाँच वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने अपनी पहली कविता बनायी थी।

"लै व्यौंड़ा ठाड़े भये"....

ये केवल सवाचौंतीस वर्ष जीवित रहे। इनकी मृत्यु ६ जनवरी १८८५ को हो गयी। इतनी छोटी अवस्था में ये कितना महान कार्य कर गये। सब से पहले तो हिन्दी का स्वरूप निर्धारित कर गये।

कविवचनसुधा (१८६७ ई०) तथा 'हरिश्चन्द्र मेगजीन (१८७३) निकालीं; इसी वर्ष बालबोधनी-पत्रिका स्त्रियों के लिए भी निकाली।

छोटी-बड़ी लगभग २०० रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें लगभग १७ नाटक विषयक प्रबन्ध, ६० काव्यग्रन्थ, १४ इतिहास-विषयक पुस्तकें, १६ धर्मग्रन्थ, १७ फुटकर ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त जो निबन्ध लिखे उनकी तो अभी पूरी पड़ताल भी नहीं हो सकी है।

एक पाठशाला अपने घर पर ही हिन्दी-अँग्रेजी की शिक्षा के लिए खोली, जिसमें स्वयं भी पढ़ाते थे। यही पाठशाला आज हरिश्चन्द्र कालेज के रूप में फलफूल रही है।

कितने ही पर्यटन किये, जिनका विवरण भी लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किया।

कितने ही लेखकों को हिन्दी की सेवा में प्रवृत्त किया,

जिससे इस युग में हिन्दी साहित्य-सेवियों का एक अच्छा भारतेन्दु मंडल बन गया।

भारतेन्दु जी ने हिन्दी रंगमंच स्थापित करने की चेष्टा की जिसमें स्वयं भी अभिनय किया।

गद्य और पद्य में अनेकों शैलियों का प्रयोग और प्रवर्त्तन किया जिनका अनुकरण आगे की पीढ़ी ने किया, और हिंदी समृद्ध हुई।

इतनी छोटी उम्र में ही इतने महत्त्वपूर्ण युग प्रवर्त्तक कार्य करने वाला व्यक्ति युग-पुरुष ही हो सकता है। फिर उसे इन निर्माणात्मक कार्यों के अतिरिक्त कितने संघर्ष करने पड़े। स्वयं अपने गुरुतुल्य[1] राजाशिवप्रसाद सितारेहिंद के विरुद्ध इन्हें खड्गहस्त होना पड़ा[2]। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को सरकार ने आनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिया था, किन्तु बाद में यह पद उनसे छीन लिया गया। 'कवि वचनसुधा' को सरकार का सहयोग प्राप्त था। वह उसकी कुछ प्रतियाँ खरीदा करती थी किन्तु 'मर्सिया' नामक एक रचना प्रकाशित होने पर सरकार ने कुपित होकर यह सहायता बन्द कर दी। सुधा के लिए यह असह्य धक्का था। यह सब सितारेहिंद के विरोध के कारण ही हुआ प्रतीत होता है। किन्तु भारतेन्दु तो

---

१. मुद्राराक्षस के समर्पण में इन्हों ने लिखा है—"परम-श्रद्धास्पद श्रीयुक्त राजा शिवप्रसाद बहादुर सी० एस० आई० के चरण कमलों में केवल उन्हीं के उत्साहदान से उनके वात्सल्यभाजन छात्र-द्वारा बना हुआ यह ग्रन्थ सादर समर्पित हुआ।"

२. उधर भारतेन्दु की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए राजा शिवप्रसाद ने लिखा था —"हाय मेरा विरोध करने वाला प्यारा भारतेन्दु अब नहीं रहा।"

हरिश्चन्द्र की भाँति सत्य व्रत पर दृढ़ रहने वाले थे। उन्होंने अपने मार्ग से विचलित होना सीखा ही नहीं था। इन पंक्तियों का लेखक एकवार बृन्दावन में पं० किशोरीलाल गोस्वामी से मिलने गया था। तब उन्होंने यथार्थ किन्तु मार्मिक बात कही थी। "बँगाली लोग जहर पचाना जानते हैं। बंकिम बाबू ने कितना विष उगला किन्तु, वह सब पचा लिया गया, और बंकिम बाबू सरकार में बड़े से बड़े पद पर प्रतिष्ठित रहे, किन्तु हिन्दी वाले जहर पचा नहीं सके तभी भारतेन्दु को कष्ट उठाने पड़े।"

सितारेहिन्द से भारतेन्दु के इस संघर्ष का मूल कारण हिन्दी का स्वरूप और राष्ट्रीयता थी, सितारेहिन्द सरकार-परस्त थे। सितारेहिंद हिंदी को उर्दू के रूप में ढाल देना चाहते थे।

भारतेन्दु का अरबी-फारसी बहुला हिन्दी से विरोध था। वे उसकी मूल भारतीय प्रवृत्ति की रक्षा करते हुए उदारता-पूर्वक अत्यन्त प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों को ही नहीं, अँग्रेजी आदि के शब्दों को भी पचा लेने के पक्ष में थे। भारतेन्दु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचते और लिखते थे; सितारे हिन्द सरकार की दृष्टि से। भारतेन्दु की दृष्टि में लोकहित प्रधान था। फलतः उन्हें दुःख झेलने ही पड़े।

ऊपर भारतेन्दुजी के किये गये कुछ महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु हिन्दी के साथ उनकी कला-परस्ती भी कम सम्मान की बात नहीं थी। कवियों का तो वे आदर करते ही थे। भारतेन्दु का दरबार इसलिए प्रसिद्ध है। पर कलापूर्ण अनेक कृतियों पर भी वे न्यौछावर हो जाते थे और मुक्त हस्त से धन लुटाते थे। कोई कारीगर

अनोखी वस्तु लेकर आया और मुँह माँगा इनाम लेकर गया। यही दशा इत्र खरीदने की थी। जिसने बढ़िया इत्र दिखाया उसीने मनमाना दाम पाया। इस प्रकार भारतेन्दुजी के यहाँ थोड़ा-थोड़ा करके इतना इत्र जमा हो जाता था कि दिवाली पर इनके ३२ दीपक जलाये जाते थे। इस कला-प्रेम के मर्म में भारतेन्दुजी का करुणापूर्ण हृदय निहित था। वे किसी कलाकार को विपन्न नहीं देख सकते थे। वे किसी को निराश नहीं देख सकते थे। उनकी दया और उनकी करुणा का यह तकाजा होता था कि उनके पास जो जिस कामना से आता वे उसकी भरसक पूर्ति करते थे।

भारतेन्दुजी के ऐसे दयालु हृदय में भक्ति की भावना ओत-प्रोत थी। वे पुष्टिमार्गी कृष्ण-भक्त थे। उन्हें अपने कृष्ण में अनन्य प्रेम था। उनकी यह कृष्ण-भक्ति आदि से अन्त तक बनी रही। तुलसी ने जैसे चातक के माध्यम से अपनी भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया, सूर ने गोपी के द्वारा; उसी प्रकार भारतेन्दुजी की प्रेमाभक्ति का स्वरूप चन्द्रावली के ब्याज से प्रकट हुआ है। चन्द्रावली नाटिका में भारतेन्दुजी ने अपना हृदय उँडेल दिया है। ऐसी आस्तिकता और भक्ति होते हुए भी भारतेन्दुजी संकुचित धर्मान्धता का समर्थन नहीं कर सके, साथ ही भक्ति-परम्परा और मूर्ति-पूजा के विरोधी स्वामी दयानन्द के मार्ग से भी वे प्रसन्न नहीं थे।

इतनी छोटी उम्र में इतना विशद कार्य करके ही उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी थी। भारतेन्दुजी अपने समय के अगुआ थे। उनके अनेकों बड़े आदमी मित्र थे, और राजनीति में भी उनके मत का सम्मान होता था। तभी उस समय के कुछ अँग्रेजों ने एक धूर्तता की थी। इन्होंने इंगलैंड की एक

सभा में यहाँ तक कह दिया कि इल्वर्ट बिल के सम्बन्ध में बंगाली लोग जो हल्ला मचा र हैं हरिश्चन्द्र उसके विरोधी हैं। यह भूठा अपवाद था। तभी 'मित्र विलास' ने एक टिप्पणी में यह लिखा था—

"फौजदारी आइन संशोधन अर्थात् 'इल्वर्ट बिल' पर अंग्रेजों और दोगलों ने जो कोलाहल मचाया वह किसी से छिपा नहीं है। इस कोलाहल में जिन-जिन बेशर्मियों, बेईमानियों और गालियों का काम लिया गया वह भी सब छिपी नहीं हैं। यह सब काम तो हिन्दुस्तान में हुए पर विलायत में 'फिसादी', शरारती, दुराग्रही और भूठे अँग्रेज अपने इन गुणों को कलफा कर बकबक करने से न टले और सब भकमारने के बिना हमारे देश के एक सुप्रसिद्ध हितैषी, निस्वार्थी, परोपकारी, परम उत्साही और हम सबके परम-प्रिय पात्र और शुभ आशाओं के मूल कारण 'भारतेन्दु' बाबू हरिश्चन्द्र को भी ऐसे अपवादों में लिप्त करना चाहा कि यदि वह सत्य निकल आवे तो हमारी आशाओं का जहाज अथाह समुद्र में गोते खाता। एक बारगी भग्न होकर डूब जाता।" मित्र विलास ने भारतेन्दुजी का स्पष्टीकरण लिखा, पत्र भी प्रकाशित कर दिया। मित्र विलास ने भारतेन्दुजी के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि अपने जीवन-काल में ही उन्हें कितनी प्रतिष्ठा मिली हुई थी। मित्र विलास ने भारतेन्दु के चरित्र का यथार्थ मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया है।

भारतेन्दुजी रईसों की भाँति जीवन-यापन करते थे, विलास की सामग्री वे अपने चारों ओर सजाये रहते थे, वारवनिताओं से भी उन्हें परहेज नहीं था। फिर भी वे

हृदयतः कृष्ण-भक्ति में रँगे हुए थे, और उनके समस्त जीवन-क्रम को देखने से निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि जीवन का वह सारा विलास-सौष्ठव वे जनक की भाँति ही उपभोग करते थे, ये विषय उन्हें कभी लिप्त नहीं कर सके—अन्यथा क्या इतना महान काय उनसे सम्भव था।

———

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी के आधुनिक युग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। वे एक कर्मठ सत्पुरुष थे। उनकी

साहित्यिक सेवाएँ तो महान हैं हीं, पर उनकी मनुष्यता उससे भी महान् है। साधारणतः हम आज द्विवेदी जी की साहित्यिक देन से प्रभावित नहीं हो पाते। आज लोग पूछते हैं :—

"आचार्य द्विवेदी जी में क्या आचार्यत्व था? या उन्होंने हिन्दी साहित्य को क्या ठोस देन दी? ऐसी कौनसी वस्तु है जो द्विवेदी जी ने प्रदान की है और जिसे दिखा कर हम उनकी महानता के सम्बन्ध में अविश्वासियों को आश्वस्त कर सकते हैं?"

और पहली दृष्टि में यह ठीक भी है। हमें द्विवेदीजी में किसी मौलिक प्रतिभा के दर्शन नहीं होते। पर वस्तुतः यह भूल है। उनका व्यक्तित्व उनकी मौलिक प्रतिभा सिद्ध करता है; उनके जीवन का स्वरूप निराश को प्रेरणा और प्रोत्साहन देता है, उनकी टिप्पणियाँ उनकी जीवन-शक्ति की द्योतक हैं, और उनकी पत्रकारिता में एक महान् आदर्श निहित है।

उन्होंने अपने समय के प्रत्येक लेखक का मार्ग-दर्शन किया और उस पर छाप छोड़ी।

पर यह सब कैसे हुआ?—द्विवेदीजी के अध्यवसाय, लगन और एकनिष्ठ जीवन के कारण यह सब हो सका। द्विवेदीजी के बाल्यकाल पर किंचित दृष्टि डालिए! हिन्दी के अधिकांश साधकों का जन्म दरिद्र परिस्थितियों में ही होता रहा है। द्विवेदी जी का जन्म भी ऐसे ही एक असम्पन्न घराने में हुआ। द्विवेदीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में जो परिचय दिया है वह मार्मिक है :—

"मैं एक ऐसे देहाती का एक मात्र आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर, १३ वर्ष की उम्र में, मैं ३६ मील दूर रायबरेली के जिला स्कूल में अँग्रेजी पढ़ने गया। आटा, दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाँ पका कर पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था।"

भारत में कितने माई के लालों को ऐसी ही दुरवस्था के ढेर में से अपना जीवन आरंभ करना पड़ता है। तभी द्विवेदी जी का जीवन साधारण भारतीय के लिए प्रेरणा का प्रकाश लिए मार्ग-दर्शन करता है। ऐसा व्यक्ति क्या पूरी और ऊँची शिक्षा पा सकता है? नहीं। द्विवेदी जी ने लिखा है "कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं उससे आगे न पढ़ सका, मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।"

किन्तु जो जीवन में कुछ करने का संकल्प रखते हैं, वे परिस्थितियों से क्या इस प्रकार हार मान सकते हैं! स्कूली-शिक्षा

ही तो शिक्षा नहीं। शिक्षा का अभिप्राय तो यथार्थ ज्ञान वृद्धि से है। ज्ञान-वृद्धि के लिए स्कूल ही अनिवार्य साधन नहीं। ऐसा व्यक्ति स्वयं अपना अध्यापक बन जाता है। द्विवेदी जी ने यह आत्मअध्ययन आरंभ कर दिया। पेट-पालन के लिए नौकरी भी करते और पढ़ते-लिखते भी।

ये एक महीने पन्द्रह रुपये महीने पर अजमेर में नौकर हुए। फिर बम्बई जाकर बीस रुपये मासिक पर जी० आई० पी० रेलवे में तार बाबू बन गये।

द्विवेदी जी ने लिखा है कि "मैंने अपने लिए चार सिद्धान्त या आदर्श निश्चित किये। यथा (१) वक्त की पाबंदी करना, (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमानदारी से करना और (४) ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रत्यन करते रहना।" यथार्थ में ये चारों सिद्धान्त सोने के सिद्धान्त हैं। इनके अनुसार आचरण करके कोई भी मनुष्य सहज ही उन्नति करता जा सकता है। इन सिद्धान्तों के अनुसार काम करने वाला आदमी न तो किसी की नजर में गिर सकता है, न शिथिल हो सकता है। जो काम सामने आया तत्परता से योग्यता पूर्वक किया। द्विवेदी जी ने बताया है कि—

"तार-बाबू होकर भी टिकट-बाबू, मालबाबू, स्टेशन-मास्टर यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेटियर (Permanent way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ।.... मेरी तरक्की होती गयी।"

द्विवेदी जी के जीवन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि वे सिद्धान्त पर दृढ़ रहने वाले मनुष्य थे। ऐसा मनुष्य दुःख उठाना स्वीकार करेगा, भूखों मरना मंजूर करेगा पर

सिद्धान्त से डिगेगा नहीं। इसी सिद्धान्त के कारण द्विवेदी जी को रेलवे की यह नौकरी छोड़ देनी पड़ी। रेलवे में उस समय वे बहुत अच्छा वेतन पा रहे थे। किन्तु द्विवेदी जी को तो सिद्धान्त की आन थी। घटना यों थी कि लार्ड कर्जन ने देहली में दरबार का विशद और भव्य आयोजन किया। उस समय द्विवेदी जी झाँसी में डिस्ट्रिक् ट्राफ़िक सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में थे। इन्हें अपना निजी काम भी करना पड़ता था और रात में अपने अफसरों का काम भी करना पड़ता था। अफसर लोग क्या काम करने के लिए हैं! वे रात को आराम करते, द्विवेदीजी रात में जग-जग कर अफसरों के नाम आने वाले तार लिया करते। ये तार दरबार के लिए चलने वाली स्पेशल गाड़ियों के संबन्ध में होते थे। द्विवेदीजी ने बड़ी व्यथा से लिखा है "उन चाँदी के टुकड़ों की बदौलत, जो मुझे हर महिने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किये गये इस अत्याचार को महीनों बरदाश्त किया," पर साहब लोगों का साहस बढ़ा हुआ था। हुक्म हुआ कि द्विवेदी जी इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह ८ बजे दफ्तर में आयें। द्विवेदी जी ने कहा—"मैं आऊँगा, पर औरों को आने के लिए लाचार नहीं करूँगा।" बात साफ थी। द्विवेदी जी अपने ऊपर अत्याचार सह सकते थे पर दूसरों पर अत्याचार कराने के माध्यम नहीं बन सकते थे। यह उन्हें अत्यन्त असह्य हुआ और तभी उन्होंने नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। किन्तु इतने उपयोगी आदमी को क्या कोई सहज ही छोड़ सकता है। भाग-दौड़, कोशिश तथा सिफारिशें हुईं कि द्विवेदी जी किसी प्रकार त्याग-पत्र लौटालें। पर न हो सका। क्योंकि जितने साहसी और ईमानदार द्विवेदी जी

थे, उनकी स्त्री उनसे आगे ही भले हों पीछे न थीं। द्विवेदीजी ने पत्नी से पूछा, उन्होंने विवश होकर कहा—"क्या थूक कर भी कोई उसे चाटता है?" द्विवेदी जी को पत्नी वीर और समझदार मिली थीं, उन्होंने यह भी आश्वासन दिया था कि आप चिन्ता न करें, आठ आना रोज भी मिल गये तो मैं गृहस्थी चला लूँगी।

और रेलवे का यह पद-त्याग हिन्दी साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ। अब द्विवेदी जी पूर्णतः साहित्य-सेवा में संलग्न हो गये। उस समय भी द्विवेदी जी को सरस्वती से प्रतिमास बीस रुपये उजरत और तीन रुपये डाकखर्च समालोचनाओं के लिए मिलते थे। इतने में ही गृह-खर्च चलाने का विचार पक्का रहा। यह उजरत 'सरस्वती' के सम्पादक के नाते उन्हें मिलती थी। नौकरी छोड़ने से एक वर्ष पूर्व ही ये सरस्वती के सम्पादक हो गये थे। इसकी भी एक मनोरंक घटना है।

झाँसी में तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने इन्हें एक पाठ्य-पुस्तक दिखायी जिसमें बहुत से दोष थे। इन्होंने उस रीडर की आलोचना पर एक पुस्तक लिख डाली और उसे प्रकाशित करा दिया। यह रीडर इण्डियन प्रेस की ही थी। इस आलोचना से इण्डियन प्रेस वाले द्विवेदी जी से बहुत प्रभावित हुए और उन्हें सरस्वती का सम्पादक ही बना दिया।

अब नौकरी छूट जाने पर तो द्विवेदी जी पूरी तरह सरस्वती के सम्पादन में ही जुट गये, फलतः सरस्वती चमकी, उसका सम्मान बढ़ा, उसी के साथ द्विवेदी जी की आर्थिक अवस्था सुधरती गयी।

द्विवेदी जी सिद्धान्त-प्रिय, नियम पूर्वक जीवन-यापन करने वाले सात्विक मनुष्य थे। किन्तु जीवन में कभी ऐसे क्षण

आते हैं जब मनुष्य दिशा-भूल जाता है। भ्रम में फँस जाता है। द्विवेदी जी जैसे मनुष्य के जीवन में भी एक ऐसा दुःखद प्रसंग आया। उनके मित्रों ने उन्हें कुछ अधिक रुपया अर्जन करने का प्रलोभन दिया, और साथ ही परामर्श दिया कि कोई कामशास्त्र सम्बन्धी ऐसी चटपटी पुस्तक लिखो कि हाथों-हाथ बिक जाय। द्विवेदीजी ग्लानि-पूर्वक लिखते हैं—"रुपये का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमे में आगया।" बड़े अध्ययन और परिश्रम से उन्होंने दो पुस्तकें लिखीं। एक का 'तरुणोपदेश' नाम रखा। मित्रों ने कहा इसमें इतनी सरसता नहीं। दूसरी पद्य में लिखी नाम रखा 'सोहागरात'। किन्तु ये पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो सकीं। इन पर उनकी पत्नी की दृष्टि पड़ गयी और तब क्या हुआ। इसे द्विवेदी जी के शब्दों में सुनिये—"फिर क्या था, उसके शरीर में कराल काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े आघात किये कि मैं तिलमिला उठा।" उनकी पत्नी ने उन्हें बन्द कर दिया। उनकी मृत्यु के बाद भी द्विवेदी जी ने उन्हें प्रकाशित नहीं कराया। द्विवेदी जी ने इस विषय में अपनी पत्नी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है—"इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया।"

यदि ये पुस्तकें प्रकाशित हुई होतीं तो क्या द्विवेदी जी का ऐसा ही सम्मान होता। निश्चय ही धन सब कुछ नहीं, और धन के लिए ऐसी कोई रचना नहीं की जानी चाहिए जो समाज के लिए हानिकर हो। द्विवेदी जी के इस आदर्श पर सहृदय और सज्जन सदा श्रद्धा के पुष्प चढ़ायेंगे। इस श्रद्धा में विशेष भाग द्विवेदी जी की। उन श्रद्धेय अर्द्धाङ्गिनी का होगा

जिसने स्त्री-सुलभ धन-लोलुपता को त्याग कर अपने पति को सन्मार्ग पर रखने का सतीत्व दिखाया। ऐसी रमणियाँ धन्य हैं।

द्विवेदीजी के पिता ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पल्टन में सैनिक थे। ये राम-लक्ष्मण की पूजा बहुत करते थे। गदर में इनकी पल्टन बागी हो गयी थी, और ये भाग निकले थे, भाग कर ये सतलज में कूद पड़े और दो दिन बाद बेहोश दूर कहीं किनारे पर लगे। जैसे-तैसे धूप खाकर कुछ शक्ति प्राप्त की। घर आये, तब बम्बई जाकर वल्लभ-सम्प्रदाय के एक गोस्वामी के यहाँ नौकर हो गये। जब द्विवेदी जी समर्थ हो गये तो वे नौकरी छोड़कर घर आ गये। द्विवेदी जी को पिता की सेवा में बहुत आनन्द आता था।

सरस्वती से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त रायबरेली में ये अपने गाँव में आकर रहने लगे थे। वहाँ उन्होंने जन-सेवा का व्रत ले रखा था। अपना पुस्तकालय और चिट्ठी-पत्री सम्बन्धी सामग्री इन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को भेंट कर दी थी।

द्विवेदी जी साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का अखण्ड स्रोत थे।

जयशङ्कर 'प्रसाद'

आपसे यदि पूछा जाय कि जीवन क्या है? पता नहीं आप क्या उत्तर देंगे। किन्तु 'प्रसाद' जैसा महाकवि स्पष्ट शब्दों में यही कहेगा—"जीवन कविता है।" प्रसाद जी ने अपनी कविता में जीवन को उतार दिया है। उनके जीवन में कविता उतर आयी है। काव्य जीवनमय हो गया और जीवन काव्यमय। तभी प्रसाद हिन्दी के महान् व्यक्तित्व हो सके। महान् व्यक्तित्व—वह व्यक्तित्व जिसने युग-युग से

आने वाले कला के मान दण्ड को बदल दिया, वह व्यक्तित्व जिसने कला के स्वरूप में नवीनता का समावेश किया, जिसने कृतिकार और कलाकार को नवोन्मेष दिया, जिसने जीवन के विचारों में नयी व्याख्या देकर यह उत्क्रान्ति उत्पन्न कर दी। "जिस ओर टुक नजर डाल दी कि कहर बरपा कर दिया।" जिस क्षेत्र में भी 'प्रसादजी' ने हाथ डाला उसी में कला का उत्कृष्ट मनोरम रूप जगमगाने लगा।

'प्रसाद' जी उस महानगरी के थे, जिसने भारतेन्दु दिये थे—काशी! उस काशी में जिसमें रहने का गर्व 'कबीर' को था! इस काशी में सुंघनीसाहु का घराना प्रसिद्ध है। इसी

सुंघनीसाहु के घराने में जयशंकर प्रसाद का जन्म संवत् १६४६ में हुआ।

सुमनजी ने लिखा है कि "इनके दादा के समय से ही कवियों, गायकों एवं कलाविदों का इनके यहाँ प्रायः जमघट रहता था। दादा इतने उदार थे कि सैकड़ों का दान करना अपवाद की अपेक्षा नित्य का नियम ही अधिक बन गया। प्रातःकाल से ही दीन-दुखियों और विद्यार्थियों की भीड़ लगनी आरम्भ हो जाती। सुबह घर से निकले कि यह सिल-सिला शुरू हो जाता। शौचादि के लिए बाहर निकलते तो लोटा और वस्त्र तक नहीं बचता। पिता भी कम न थे। हाँ, दादा की उदारता के साथ व्यवहार-बुद्धि भी उनमें थी। वह भी खूब हृष्ट-पुष्ट, कसरती और उदार थे।" ऐसे घर में प्रसादजी का जन्म हुआ। यह 'सुंघनी साहु' का घराना तम्बाकू की दूकान के लिए प्रसिद्ध था। इनके पितामह का नाम शिवरत्न था, और पिता का देवीप्रसाद।

प्रसादजी केवल बारह वर्ष के ही थे कि इनके पिता की मृत्यु हो गयी, यही अवस्था होती है जब बालक को पिता के आश्रय की सब से अधिक आवश्यकता होती है। उसके भविष्य-निर्माण और पोषण के लिए पिता के छत्र की छाया से बढ़कर दूसरी वस्तु नहीं होती। इस हृदय-विदारक घटना से कोमल-मति प्रसाद को मर्म-पीड़ा ही नहीं हुई, इनकी पढ़ाई-लिखाई पर भी असर पड़ा। सातवीं कक्षा से इन्होंने पाठशाला जाना छोड़ दिया। उनके बड़े भाई शम्भुरत्नजी ने इनकी पढ़ाई का घर पर प्रबन्ध कर दिया, संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, फारसी का घर पर ही इन्होंने अध्ययन किया। प्रतिभा कभी अड़चनों और अभावों से परास्त नहीं

होती। प्रसाद की प्रतिभा ने उन्हें कला और पांडित्य के लिए उत्कट व्यग्रता प्रदान की थी। अपने घर में कवियों के जमघट और कविताओं के कलरव से विना प्रभावित हुए ये कैसे रह सकते थे। इन्होंने भी समस्या पूर्तियाँ की। किन्तु यथा संभव इन्होंने यह बात किसी पर प्रकट नहीं होने दी। आखिर कब तक छिपे रह सकते थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में यह भेद खुल गया। इसी समय के लगभग इनकी माता की भी मृत्यु हो गयी और ये मुश्किल से सत्रह वर्ष के हो पाये होंगे कि बड़े भाई ने भी संसार से विदा ले ली। इस अवस्था के ये आघात प्रभाव डालते ही।

कहते हैं सन् १९०६ या १९०७ में इनकी सबसे पहली कविता 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई। श्री विनयमोहन शर्मा ने बताया है कि "सन् १९१० से आपकी साहित्य-सेवा का श्रीगणेश होता है।" शर्माजी इनकी साहित्यिक सेवा का आरम्भ १९०६ से न मानकर सन् १९१० से इसलिए मानते हैं कि—

"आपके भान्जे बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने इन्दु को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। 'प्रसाद जी' उसके प्रमुख लेखक थे और कवि थे।' अभिप्राय यह है कि 'इन्दु' के प्रकाशित होने के समय से ही इनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ माना जाना चाहिए, इनका सर्व प्रथम गद्य लेख रूप तथा इनकी सबसे पहली कहानी 'ग्राम' इन्दु में ही प्रकाशित हुई।

यह युग ऐसा था जिसमें काव्य रचना, के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त मानी जाती थी। इनके घर जो कवियों का दरबार जमता था उसमें निश्चय ही ब्रजभाषा की कविता का रंग

जमता था। उस वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले प्रसाद जी की पहली तुकबंदियाँ ब्रजभाषा में हों तो आश्चर्य नहीं हो सकता। सन् १६०४-१६०५ के लगभग इन्होंने ब्रजभाषा में 'प्रेम-पथिक' नाम का काव्य लिखा, जिसे इन्होंने सन् १६११ के लगभग खड़ीबोली में रूपान्तरित कर दिया। आगे वे निरंतर खड़ीबोली में ही कविता करने लगे।

'प्रेमपथिक' के इस खड़ीबोली के काव्य में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह भिन्न तुकान्त था। हिंदी-काव्य में तुकान्त रचनाएँ ही प्रचलित थीं। प्रसाद जी ने भिन्न तुकान्त का नया प्रयोग आरम्भ किया। इससे पुरानी परिपाटी के विद्वानों में बड़ा असन्तोष फैला, बड़ी चर्चा हुई, किन्तु प्रसाद जी के इस प्रयोग का साधारणतः आदर हुआ, और धीरे-धीरे ये नये युग के प्रवर्त्तक माने जाने लगे। क्योंकि इन्होंने न केवल छन्द में ही ऐसा नया प्रयोग प्रस्तुत किया, भाव में भी आगे चलकर एक विशेष गरिमा भरने की चेष्टा की जिससे छायावादी काव्य का जन्म हुआ।

प्रसाद जी का शरीर ठिंगना और गठा हुआ था, मुख गोल। श्री विनयमोहन शर्मा जी के शब्दों में 'बारहवर्णी स्वर्ण भार से देदीप्यमान'। श्री रामनाथ सुमन को वे प्रथम दर्शन के समय राजकुमार से विदित हुए। श्री विनोद शंकर व्यास ने प्रसाद जी के व्यक्तित्व के संबंध में जो लिखा है, उसमें से कुछ उदाहरण देने से उस व्यक्तित्व का स्वरूप प्रकट हो सकता है। वे लिखते हैं:—

"चौदह वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन साथ रहते हुए भी मैंने उनमें कोई दुर्गुण नहीं देखा।........'प्रसाद' जी का व्यायाम की ओर बचपन ही से अभ्यास था। वह एक हजार बैठक

और पांच सौ दण्ड अपने जमाने में प्रतिदिन करते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त आधा सेर बादाम प्रतिदिन खाते थे। जवानी में ढाका के मलमल का कुर्ता और 'शान्तिपुरी' धोती पहनते थे। लेकिन बाद में खद्दर का भी उपयोग करते रहे। जाड़े में सुंघनी रंग के पट्टू का कुर्त्ता अथवा सकरपारे की सींयन का रूईदार ओवर कोट पहनते थे। आँखों पर चश्मा और हाथ में डण्डा, प्रसादजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था।" और भी वे लिखते हैं कि—

"प्रसाद का सामाजिक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव सात्विक पाया। पान को छोड़कर उन्हें और कोई व्यसन नहीं था। वह भाँग तक नहीं पीते थे—माँस-मदिरा से हार्दिक घृणा सी थी।"

इनके इस व्यक्तित्व के प्रभाव का पता हमें एक और घटना से लगता है। एक हिन्दी प्रेमी अँग्रेज काशी विश्वविद्यालय में आये। वे प्रसादजी से मिलने गये। प्रसाद के आने में कुछ देर थी। इन महोदय को कुर्सी पर बैठाया गया और सत्कार में पान दिया गया। पान खाना इन्होंने अस्वीकार कर दिया। जब प्रसादजी आये तो ये इतने अभिभूत हुए कि जब प्रसादजी ने स्वयं इन्हें पान दिया तो उसे कृतज्ञता पूर्वक इन्होंने स्वीकार कर लिया।

कहते हैं प्रसादजी ने अपनी अल्हड़ जवानी में किसी को प्रेम किया था। विनोद शंकर व्यास ने बताया है कि "यह मुझे बाद में पता लगा। १३ फरवरी १९२६ ई० को मैंने उनसे पूछा—"आपकी रचनाओं में प्रेम का एक उज्ज्वल हिस्सा छिपा हुआ है, लेकिन मुझे आपने इतने दिनों में भी यह नहीं बतलाया कि आपकी वह अज्ञात प्रेयसी कौन थी?"

उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया उसके पश्चात् फिर इस सम्बन्ध में मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा। लोगों का अनुमान है कि प्रसादजी ने इस प्रेम-घटना का उल्लेख 'हंस' के 'आत्मकथाङ्क' के अपने परचिय की कुछ पंक्तियों में किया है। उनका यह प्रेम संभवतः असफल रहा।

'प्रसाद' जी ने साहित्य-सृजन को आजीविका के लिए व्यवसाय नहीं बनाया था, या यों कह सकते हैं कि उसे चाँदी-सोने; में कभी नहीं तौला था। वे जो लिखते और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते उसका पारिश्रमिक नहीं लेते थे। साहित्य-सेवा का कैसा उज्ज्वल आदर्श था। तभी वे सरस्वती के वरद पुत्र हुए। तभी उनकी प्रत्येक पंक्ति अमूल्य बन पड़ी है। उन्हें हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग और नागरी प्रचारिणी सभा काशी से ५००) और २००) के दो पुरस्कार मिले थे। ये सब भी उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिये थे।

इसी प्रकार वे महान् कवि थे किन्तु कभी किसी कवि-सम्मेलन का सभापतित्व बनना उन्होंने स्वीकार नहीं किया, न कवि-सम्मेलनों में अपनी रचना सुनाना ही स्वीकार किया। यों घर पर वे सहृदयों के साधारण आग्रह पर भी मग्न होकर कविता सुनाने लगते थे।

इनका घराना शैव था, ये स्वयं भी शिव-भक्त थे। इनकी रचनाओं में शैव-दार्शनिकता मिलती है। शिव-भक्त होने के कारण ही उनके यहाँ शिवरात्रि का उत्सव अत्यन्त समारोह के साथ मनाया जाता था। होली भी उमंग से मनायी जाती थी।

इस विवरण से विदित होता है कि प्रसादजी धार्मिक

भावनाओं वाले आत्म-त्यागी व्यक्ति थे। इस आत्मत्यागी वृत्ति के कारण ही इन्होंने उन साधनों का उपयोग नहीं किया जो प्रचार की दृष्टि से इन्हें सहज ही सुलभ थे, इसी कारण इन्होंने कभी किसी सभा-सम्मेलन का सभापति होना स्वीकार नहीं किया। कभी पारिश्रमिक नहीं लिया। यही नहीं सुमनजी ने बताया है कि अपनी कमजोरी की दशा में आर्थिक संकोच झेलते रहे किन्तु अपनी संतान के अधिकार को स्वीकार करते हुए अपनी जायदाद पर भी कर्ज लेने को तय्यार नहीं हुए। इन्होंने सुमनजी से कहलाया था—"जब मेरा पुत्र है, तब सम्पत्ति पर मेरा क्या अधिकार है कि मैं उस पर कर्ज लूँ।" इस प्रवृति का ही परिणाम यह हुआ कि ये उतने जीवित नहीं रह सके जितने रह सकते थे, क्योंकि भली प्रकार इलाज नहीं करा सके।

सभी जानते हैं कि प्रसादजी केवल कवि ही नहीं नाटककार भी थे। उनके नाटकों की भूमिका से इनके ऐतिहासिक तत्त्ववेत्ता होने का भी पता चलता है। इतिहास में इतनी गहरी पैठ किसी कवि को भी हो सकती है यह आश्चर्यजनक ही है। इसी ऐतिहासिक शोध-वृत्ति के कारण ये सारनाथ जाया करते थे, वहाँ के म्यूजियम में भी इनकी रुचि थी। वहाँ के सिंहली भिक्षु प्रज्ञा सारथि का संपर्क इन्हें मिला था। इस संपर्क ने इन्हें बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्म के प्रति भी एक अनुराग प्रदान किया था। इनके नाटकों में इस बौद्ध-दर्शन और बौद्ध धर्म की पृष्ठ भूमि स्पष्टतः देखी जा सकती है। इनके नाटकों में अजात शत्रु, स्कंद गुप्त आदि में बौद्ध-प्रवेश किसी न किसी रूप में अवश्य हैं। नाटकों के लिये भी प्रसादजी ने अद्वितीय कार्य किया। हिन्दी नाटकों का स्तर एक दम ऊँचा हो गया।

प्रसादजी ने कहानियाँ, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे। इन सभी में उनकी प्रतिभा ने नये चमत्कार दिखाये हैं और कला का ऊँचा और सौष्ठव पूर्ण स्वरूप इनमें इन्होंने प्रतिष्ठित किया है।

हिन्दी के लिए सरस्वती के उदार 'प्रसाद' स्वरूप प्रसाद की मृत्यु १० नवम्बर १६३७ को हो गयी।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द युग-प्रवर्त्तक हैं और जीवन-निर्माण कर्त्ता। उनके उपन्यासों ने और कहानियों ने न जाने कितने व्यक्तियों को

गुमराह होने से बचाया है, न जाने कितनों को जीवन के कठिन मोड़ों पर प्रकाश दिया है, कितनों को क्षुद्र, दरिद्र, गलित और मलिन विचारों से ऊपर उठाकर मनुष्यता के पवित्र क्षेत्र में पहुँचाया है। प्रेमचन्द एक महान् शक्ति की भाँति भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के युग में साहित्य में अवतीर्ण हुए। उनकी लेखनी में दर्द था, उनकी लेखनी में नैतिक प्रोत्साहन था, उनकी लेखनी में अन्याय के प्रति विद्रोह था, और था उनकी लेखनी में मनुष्य के सद्भाव में विश्वास। ऐसे महापुरुष के दर्शन का चाव किसे नहीं होगा। हिन्दी के एक और प्रसिद्ध कहानी-उपन्यास लेखक जैनेन्द्र पहिले पहल उनसे मिलने गये, प्रेमचन्द ने ऊपर से झाँक कर जैनेन्द्र को देखा, और जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द को; जैनेन्द्र लिखते हैं—

"जो सज्जन ऊपर खड़े थे, उनकी बड़ी घनी मूछें थीं, पाँच

रुपये वाली लालइमली की चादर ओढ़े थे, जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढक सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था, सिर जरूरत से ज्यादा छोटा प्रतीत हुआ, मामूली धोती पहिने हुए थे, जो घुटनों से जरा नीचे तक आगयी थी, आँखों में खुमारी भरी दीखी, मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं।"

श्री जनार्दनराय उनसे पहिले पहल मिलने गए और उन्होंने जैसा देखा, वह ऐसे हैं—

"मैंने उस कमरे में मुड़ कर झाँका, दो-तीन व्यक्तियों से घिरी, मेज पर झुकी-सी, कागज पत्रों के ढेर से आच्छादित मैंने एक मूर्ति देखी, रेशमी तमाबुई, बिखरे बाल, पतली तीखी भवों पर संकुचित पर प्रभविष्णु ललाट, अनुभव की रेखाओं से खुदा और सरल, गहरी देखने वाली आँखें, प्रेमचन्द, वही-वही, मछली के अगले पंजों जैसी ब्रुशनुमा मूछें और सारी मुद्रा पर स्वप्न-लीनता का अत्यन्त सूक्ष्म रोगन, यही प्रेमचन्द हैं।"

इसी प्रेमचन्द की जो मूर्ति दक्षिण के हिन्दी-प्रचारक श्री ब्रजनन्दन शर्मा की आँखों में घूम रही है, वह यह है—

"आज भी उनके अनुभवों की गहराई बताने वाला झुर्रीदार चेहरा, करुणा से छलछलाती आँखें, उनकी जिन्दादिली को व्यक्त करने वाली मुस्कराहट, साहित्य-सेवा की चिन्ता में डूबा सिकुड़न वाला ललाट, दिमाग की उलझी हुई समस्याओं की तरह उलझी हुई मूछें, आर्थिक दुरवस्था की द्योतिका झुकी हुई कमर और पूँजीपतियों का शिकार होने की घोषणा करने वाली रक्त-हीनता और सफेदी आँखों में घूम रही है।"

श्री चन्द्रभाल जौहरी ने "मैक्सिम गोर्की की माँ" का

अनुवाद उपस्थित करते हुए भूमिका में यह बतलाया कि—

"प्रेमचन्दजी और मैक्सिम गोर्की में मुझे बड़ी समता लगती है। इन दोनों महान लेखकों के फोटो देख कर उनके चेहरे की झुर्रियों के पीछे मुझे एक-सी ही सरल बाल-आत्मा हँसती हुई दीखती है।"

ये चित्र कुशल कलाकारों ने उपस्थित किये हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेखक की आकृति और मुद्रा को पकड़ नहीं पाये। जैसे बहुत कुछ कहना रह गया, और जो कहा गया वह सब केवल मुख की बाबत ही। फोटो तो एक जड़यन्त्र की अनुरचना है, वह उन सजीवताओं को कैसे ला सकती है।

शरीर के अन्दर ललाट, आँख, नाक, कान, दन्त, मुख, ओष्ठ, ठोड़ी, कपोल के आकार-मण्डल में दिव्य परियों की भाँति दिव्यता रमण करती रहती है, मानों रंग-विरंगी तितलियाँ किसी स्वप्निल अरुण लोक में मन्द स्मिति सी बिखर रही हों। जिनकी आँखों में करुणा, पर ऐसी खुमारी भी जिसने अर्द्धनिमीलित बड़े-बड़े पलकों के किनारे रँग रखे हों, और वे पलक किसी दूर की कल्पना को निकट लाते हुए से; जिनका मुख अन्तर-प्रेम से विकल प्रत्येक के सहज चुम्बन के लिए तत्पर हुआ-सा,—पर नहीं यों रूपांकन नहीं हो सकता, वह छवि यों शब्दों में आ ही नहीं सकती। बहुत कुछ शेष रह जायगा और असन्तोष बना ही रहेगा। यह प्रयत्न जितना ही अधूरा रहे, उतना ही अच्छा। पात्र का ध्यान न कर दूध ही देखा जाय, वृत्त का ध्यान न कर फलों पर ही दृष्टि रक्खी जाय।

तो प्रेमचन्द का जन्म सन् १८८०, सं० १९३७ में हुआ था,

बनारस में पांडेपुर मौजा उसका भी एक पुरवा लमही.......
वहीं ठेठ देहात में उन्होंने एक साधारण कायस्थ परिवार में इस जगत् का प्रथम दर्शन किया—अपने जीवन का प्रथम प्रभात देखा। पिता बीस रुपये मासिक पाने वाले डाकखाने के क्लर्क थे, यों उन्हें उत्तराधिकार में नाम मात्र की काश्तकारी भी मिली थी। प्रेमचन्द ने 'जीवन-सार' (आत्म कहानी) को इन शब्दों में आरम्भ किया है। "मेरा जीवन सपाट समथल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीले, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है।" जिस व्यक्ति की माता का देहान्त सात वर्ष की अवस्था प्राप्त करते-करते हो जाय. और विमाता के शासन का कटु सुख भोगना पड़े। सोलह वर्ष के लगभग जिसके पिता ने अपना हाथ जिसके ऊपर से उठा लिया, जिसे पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विवाह-बन्धन में बाँध दिया गया, जिससे सन्तोष न पाकर जिसे उनकी जीवित अवस्था में ही बहुत कुछ सोच विचार के पश्चात् विना आवेगों का शिकार बने, एक विधवा से विवाह करने के लिए अग्रसर होना पड़े, जिसने रो-धोकर, ले-देकर कष्टों और आपत्तियों को काटते हुए मैट्रिक परीक्षा पास की हो, जिसके पारिवारिक जीवन की यही कुछ मोटी-मोटी घटनाएँ हों, माता की मृत्यु, अपना विवाह, पिता की मृत्यु, अपना विधवा से विवाह, फिर सरकारी नौकरी, और उसे छोड़ प्रेस और लेखन-व्यवसाय, निश्चय ही बाहरी जीवन उसका सपाट कहा जायगा !—कुछ गड्ढे हों, पर जिसे हम लेखक-जीवन कहते हैं, वहाँ, जहाँ का प्रेमचन्द इस पंच-तत्व के पुतले के भीतर किसी मानस-लोक में ही जन्म ग्रहण करता है, और जिससे यह मिट्टी का शरीर सम्मान का भागी हो पाता है, उस प्रेमचन्द के जीवन में पर्वत और जंगलों की

भरमार दीखती है, गहरी घाटियाँ, खाई, खन्दकों का वहाँ अभाव नहीं—और इसे सभी देखने वालों ने उनके सौम्य मुख की विषादयुक्त झुर्रियों में सम्भवतः देखा भी, कहीं। तभी तो यह प्रश्न उठता था कि फिर, यह उनकी खुलकर हँसी ? यह क्या थी ? तभी तो कहीं कुछ लोगों के हृदय में यह भाव उदय नहीं होता था कि उन्हें—प्रेमचन्द को शहीद क्यों नहीं कहा जा सकता ? उनकी हँसी क्या थी ? गोर्की ने कहीं लिखा है, "शायद वह लोग जिनके दिल अन्दर से पके होते हैं, बाहर से बहुत हँसा करते हैं।"

और यदि कोई सच्चा खिलाड़ी ही हो जो हारने के विष को पीकर जगत को जिलाने के भाव में ही आनन्द और उल्लास दिखा रहा हो, उसे आप अपने मन में शहीद समझें, पर जबान पर नहीं ला सकते; क्योंकि मृत्यु के उपरान्त भी वह शहादत का गौरव उठा न सकेगा। वह तो यही कहेगा, मेरा धर्म, मैंने किया—बस, पर खबरदार उसे शहादत कह कर एक वर्ग की वस्तु न बनाना।

इस अन्तर के प्रेमचन्द को तो आगे समझने का उद्योग करेंगे, इसके लिए जो बाहर हुआ कुछ उसको भी जानना है। पिता की मृत्यु हो गई थी—किन्तु प्रेमचन्दजी में पढ़ने के अरमान थे, होना चाहते थे एम० ए० और एल०-एल० बी०। पर घर में भूँजी भाँग न थी। पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़ियाँ थीं, और प्रेमचन्दजी लिखते हैं "मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।"

"पाँव में जूते न थे, देह पर साबित कपड़े न थे, मँहगी अलग, १० सेर के जब थे।" क्वीन्स कालेज में पढ़ते थे, फीस माफ हो गयी थी, परन्तु इससे क्या ? ट्यूशन करनी

पड़ी। काशी में "बाँस के फाटक" एक लड़के को पढ़ाने जाते। साढ़े तीन बजे कालेज से छूटते, ६ बजे ट्यूशन से; पाँच मील पैदल गाँव, ८ बजे के लगभग पहुँचते, और इसी प्रकार प्रातः आठ बजे चल देना पड़ता। फिर भी दूसरी श्रेणी में मैट्रिकुलेशन पास हो गये। क्वीन्स कालेज में आगे पढ़ना हो ही नहीं सकता था। वहाँ फीस प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी की माफ की जाती थी। हिन्दू-कालेज नया खुला था। उसमें नाम लिखाने का प्रबन्ध किया। एक सिफारिश भी करायी, पर प्रिंसिपल ने योग्यता की जाँच की पख लगा दी। इस जाँच में गणित में असन्तोषजनक बताए गए तो फार्म लेकर घर बैठ रहे। आखिर प्रिंसिपल से मिलने में कुछ फायदा? अब! पढ़ना तो है ही। एक वकील साहब के यहाँ पाँच रुपये वेतन पर लड़कों को पढ़ाने का काम ले लिया। तीन रुपये घर भेजते, दो में अपना खर्च चलता।

"वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी सी कच्ची कोठरी थी, उसमें टाट का एक टुकड़ा बिछा दिया। एक छोटा-सा लैम्प ले लिया गया। एक वक्त खिचड़ी पकाली जाती और बर्तन साफ कर लायब्रेरी जा पहुँचते। इन्हीं दिनों पंडित रतननाथ दर का 'फिसाना आजाद', देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता संतति' और बङ्किम बाबू के उर्दू अनुवाद पढ़ डाले। पर इन पाँच रुपयों में बड़ी कठिनाई से भी काम न चल पाता था। कुछ कर्ज हो गया था, खाने को गाँठ में कुछ था नहीं, तो चक्रवर्ती गणित की कुंजी बेचकर कुछ रुपये पाने की सूरत निकाली। १) रुपये में वह कुंजी बिकी पर वहीं दूकान पर एक छोटे से स्कूल के हैड मास्टर से भेंट हो गयी। उन्होंने इन्हें १८) रुपये मासिक वेतन पर अपने यहाँ अध्या-

पक्र रख लिया, इस प्रकार सन् १८९९ से ऐसी आर्थिक कठिनाई का कष्ट कुछ दूर हुआ। प्रेमचन्दजी ने लिखा है कि 'अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा व्यथित कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान के ऊपर थे।'

इसके अनन्तर वे सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर हो गये। हमीरपुर में तैनात हुए। १९०७ से कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया। १९०९ में पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ। इसमें स्वदेश प्रेम की महिमा गायी गयी थी। अधिकारियों को इसमें 'सिडीशन' दिखायी पड़ा। जिलाधीश ने सब पुस्तकें मँगवा कर जला डालीं। फिर यह प्रबन्ध सोचा गया कि मुकदमा चलाया जाय। किन्तु एक डिप्टी इन्सपेक्टर साहब ने इनकी रक्षा की और मुकदमा न चला। नौकरी से अलग होते-होते बचे। हमीरपुर में ही इन्हें पेचिश की शिकायत हो गयी। अनेकों उपचार करने पर भी दूर न हुई तो आपने तबादिला कराया। बस्ती में नियुक्ति हुई। यहाँ भी फायदा न हुआ तो दौरे की नौकरी छोड़कर बस्ती हाईस्कूल में हैडमास्टर हो गये। यहाँ से बदलकर गोरखपुर पहुँचे। पेचिस पूर्ववत। यहाँ से प्राइवेट बी० ए० पास भी कर लिया। रोग पिण्ड न छोड़ रहा था। जिसने जो बतलाया वही उपचार भी किया। यहीं महात्मा गान्धीजी आये। गाजी मियाँ के मैदान में उनका व्याख्यान हुआ। प्रेमचन्दजी कहते हैं कि "दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा।" निश्चय ही चेत उठा। इन्होंने

अपनी २० साल की नौकरी को लात मार दी, और महावीर-प्रसाद पोद्दार को साथ लेकर देहात में चले गये। चर्खे बनवाये गये और देहात में प्रचार करने का प्रोग्राम बना। यहाँ पेचिश कम होने लगी और धीरे-धीरे दूर हो गयी। इस पर कितनी मार्मिक टिप्पणी प्रेमचन्द ने दी है। "गुलामी से मुक्त होते ही मैं ६ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।" जो व्यक्ति उस संक्रामक रोग के चक्कर में पड़ा हुआ सोचता था कि अब मरा, अब मरा, वह अब स्वस्थ हुआ और देश तथा साहित्य की सेवा में अधिकाधिक प्रवृत्त हुआ। पहले तो प्रेमचन्द असहयोग में काम करते रहे, फिर कानपुर विद्यालय में अध्यापक हुए।

इसी असहयोग आन्दोलन के जमाने में कई राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हुए थे। 'काशी विद्यापीठ' भी ऐसा ही विद्यालय था। प्रेमचन्द जी कुछ दिनों तक इसमें भी हेडमास्टर रहे। 'माधुरी' में कुछ काल के लिए सम्पादक हुए। फिर एक वर्ष के लगभग बम्बई की फिल्म कम्पनी में काम किया। इन सब कार्यों को करते हुए यथावकाश इन्होंने 'सरस्वती प्रेस' खोल रक्खा था, इससे हंस नामक पत्र निकाला। भारतीय साहित्य-परिषद की स्थापना मुख्यतः आपकी ही प्रेरणा से हुई। 'हंस' उसका मुख्य पत्र मान लिया गया। इस प्रकार हिन्दी और भारतीय साहित्य की सेवा करते-करते यह साहित्य-पुष्प ८ अक्टूबर १६३६ को मुरझा कर मिट्टी में सदा के लिये विलीन हो गया। अभी अवस्था केवल ५६ वर्ष की ही थी और हिन्दी चाहती थी कि निष्ठावान क्रियाशीलता तथा प्रतिभा का प्रसाद और मिलता रहे।

यह उनके शरीर-त्तेप का स्थूल घटनावृत्त है। इसमें हमें

जो दीखता है, वह साधारण है। किन्तु किसी भी कहानी के नायक से कम आकर्षक नहीं। विधवा-विवाह, नौकरी-परित्याग, फिल्म के लाभप्रद व्यवसाय का परित्याग, इनमें भीतर के प्रेमचन्द का कितना अटल रूप रुकते-रुकते प्रकट हो पड़ता है। इस साधारण व्यापार में और सहज दीनता में बड़े-बड़े कंगूरे क्या ऐवरेस्ट से भी ऊँचे नहीं? इनकी ऊँचाई को क्या पहुँचना और नापना सहज सम्भव है? जिस प्रेमचन्द में गर्व का नाम न था, जिसने अपनी सारी सेवाओं और उसकी महानताओं को व्यक्ति-दैन्य से ऐसा ढक रक्खा था, नहीं, धूल धूसरित कर रखा था, जैसे सुवर्ण के स्तूप को राख में दबा दिया गया हो, उसके इन उन्नत पीठों को कोई वस्तुतः देख न सका। जो व्यक्ति स्वयं यह कहा करता हो कि मैं कुछ नहीं, मेरे पास क्या है? यही नहीं, जो उसे बड़ा बनावे उसका प्रतिवाद कर अपनी दीनता का ही परिचय दे, उसे कोई क्यों बड़ा माने! जैनेन्द्रजी ने लिखा है कि "मेरे मन पर प्रेमचन्द जी के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है।" मैं कहता हूँ कि यह गलत है, इतना माना जा सकता है कि वे स्वभाव में कोई ऐसी बनावट नहीं रखते थे, कि जिससे दर्शक पर यह प्रभाव पड़े कि यह कुछ रहस्य-सा है, अथवा हमारे सम्मुख कुछ दिखाने को इच्छुक है, किन्तु क्या यह सम्भव नहीं कि वह व्यक्ति जो दीखता है, वह वस्तुतः न हो उसका स्वभाव भी तो अन्तर-भाव से पृथक हो सकता है। संयम ने उनके स्वभाव को उनके अन्तर्भाव से विलग कर उसे इस रूप में प्रकृत बना दिया था कि जैनेन्द्रजी पहले यही समझे कि यह व्यक्ति जो है, वही दीख रहा है। उस व्यक्ति के जीवन के उपरोक्त तीन चढ़ावों

को क्या ध्यान से समझा गया ? यदि समझा गया होता तो यह प्रत्यक्ष होता कि यह व्यक्ति यथार्थ में जो कुछ है, वह इसके स्वभाव मिलने-जुलने, बात, व्यवहार में उससे कहीं बहुत कम प्रकट हो पा रहा है। यहीं एक बात पर और ध्यान दीजिए। जैनेन्द्र से पहली मुलाकात में बात करते-करते प्रेमचन्द घर के लिए दवा लाना भूल गये। जब उन्हें याद दिलायी गयी तो जैनेन्द्र ने लिखा है —

"प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले, जरा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ ख्याल ही नहीं रहा—कह कर इतने जोर से कह-कहा लगा कर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौचक्का रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।" यह हँसी·······यह हँसी क्या साधारण धरातल पर हँसी गयी थी ? क्या उनका स्वभाव जो अब तक व्यक्त कर रहा था, यह उसी व्यक्ति की इतनी खुली हँसी थी इतनी ऊँची हँसी थी ? न, वह हँसी बहुत ऊँचाई से हँसी गयी थी, वह मुस्कराहट हँसी न थी और इतने हँसने का जब कोई प्रबल कारण न था, तो और भी सिद्ध होता है कि वह हँसी जहाँ से आयी थी, वह व्यक्ति प्रेमचन्द इस अभिव्यक्त प्रेमचन्द से नितान्त भिन्न है। ऐसी विशेषता से हमारा कथन पुष्ट होता है। वह व्यक्ति जो था, वह प्रकट न हो पा रहा था, उसे प्रेमचन्द ने अपने चेतन अभ्यास-प्राप्त स्वभाव से जकड़ कर बाँध रखा था कि वह कहीं कोई ऐसी बात न कर बैठे, कि जिसमें स्पष्ट ही पहाड़, जंगल, ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ आ जायँ, कि वह सपाट और समतल न होकर ऊबड़-खाबड़ हो जाय। यह उद्योग स्वयं उनके व्यक्तित्व की

महानता प्रकट कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वभाव को ऐसा बनाने का उद्योग जान-बूझकर उन्हें अपने गृह की परिस्थितियों के कारण करना पड़ा। पर इस व्यक्ति की कुछ ऐसी झाँकियाँ भी करनी हैं, जो उन्हें लेखक होने की ओर अग्रसर कर रही हैं।

उनकी तेरह साल की अवस्था रही होगी, हिन्दी जानते न थे। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतनाथ सरशार, मिरजा रुशवा, मौलवी मुहम्मदअली के उपन्यासों की धूम थी। रेनाल्ड के उपन्यासों का भी उर्दू में अनुवाद हो रहा था। वे भी बहुत लोक-रुचि को पकड़ रहे थे। प्रेमचन्दजी को इनका चस्का पड़ गया। उस समय वे गोरखपुर में अपने पिता के पास थे। मिशन स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ते थे। वहाँ उन्होंने बुद्धिलाल नामक बुकसेलर से दोस्ती कर ली। उसकी दुकान पर बैठ कर उपन्यास पढ़ते, उसके यहाँ से पुस्तकें बेच कर कमीशन में पुस्तकें घर ले जाते और पढ़ते। सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले, इनमें 'तिलस्मी होशरुवा' भी था। यह ग्रन्थ किसी भी एनसाइक्लोपीडिया से कद में छोटा न बैठता, ये सब ग्रन्थ पढ़ डाले।

इसी बीच में एक घटना हो गयी। इनके मामूँ साहब की शादी न हुई थी, अतः वे एक चमारिन के चक्कर में आ गये। एक दिन लोगों ने सलाह कर इन्हें इतना पीटा कि बेदम हो गये। वहाँ से वे इनके यहाँ आ डटे, पर दमखम नहीं। उन लोगों पर डाका डालने का अभियोग चलाने का आयोजन करने लगे। यह घटना बालक प्रेमचन्द के लिए विलक्षण थी। उपन्यास पढ़ने वाले को तो उसमें न जाने क्या दीख गया। उनका मन मचल उठा। कलम उठा ली और इस घटना को

एक नाटक का रूप दे डाला। मित्रों ने पढ़ा और हँसे, प्रशंसा की। यह पहली रचना थी। वह पुस्तक प्रेमचन्दजी ने मामूँजी के कमरे में सिरहाने रख दी। फल यह हुआ कि वह पुस्तक और उनके मामूँजी उसी दिन से उनके घर से गायब हो गये, पुस्तक का तो फिर कहीं पता न चला। प्रेमचन्दजी ने अन्त में यह टिप्पणी की है—"मालूम नहीं, मामूँ साहब ने उसे चिराग-अली के सुपुर्द कर दिया या अपने साथ स्वर्ग ले गये?"

कई वर्ष बीत गये, इतने उपन्यास पढ़े थे कि दिल उसमें रँग गया था। सन् १६०१ आ पहुँचा और इन्होंने उर्दू में एक उपन्यास लिख डाला। इसका नाम "प्रेमा" था। इसके बाद कई उपन्यास लिखे। अभी कहानियाँ लिखना आरम्भ न हुआ था। सन् १६०७ आ गया यही वह वर्ष है, जिस वर्ष से इन्होंने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। रवीन्द्रनाथ की कहानियों की धूम थी। इन्होंने इन्हीं रवीन्द्र की कई कहानियाँ उर्दू में अँग्रेजी से अनुवाद करके छपवायीं। फिर अपनी मौलिक कहानियाँ भी लिखने लगे। १६०६ में पाँच मौलिक कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' प्रकाशित हुआ। इसमें अधिकारियों को "सिडीशन-विद्रोह" दिखायी पड़ा। देश-प्रेम की कोई बात कहना उस युग में सिडीशन से कम क्या हो सकता था। उसकी सारी प्रतियाँ जला दी गयीं। प्रेमचन्द की नौकरी जाते-जाते छूटी। प्रेमचन्दजी नाम से थे तो धनपतिराय, पर कहानियों पर 'नवाबराय' का ही नाम डालते थे।

जब वे तबादला कराके बस्ती पहुँचे तो वहाँ हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक मन्नन द्विवेदी गजपुरी से आपकी भेंट हुई। गजपुरीजी डोमरियागंज में तहसीलदार थे।

जब वे बदल कर गोरखपुर पहुँचे तो वहाँ साहित्य के

मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और उद्योगी पुरुष महावीर प्रसादजी पोद्दार से आपका परिचय हुआ। इन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने फिर उपन्यास लिखा, और वही उपन्यास "सेवासदन" कहलाया। गल्पें तो हिन्दी में ये जब बस्ती में थे, तभी लिखने लगे थे। वे सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थीं। अब उपन्यास भी हिन्दी में लिखा। इस प्रकार हिन्दी में इनकी रचनाओं का धूम-धाम से स्वागत हुआ और वे उसके अपने बन गए। इनका सबसे पहला कहानी-संग्रह हिन्दी में १६१५ में प्रकाशित हुआ, इसकी भूमिका मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने लिखी।

सरस्वती प्रेस खोल दिया गया था। हिन्दी के ऐसे प्रेसों की जो अवस्था होती है, वही इसकी थी। रुपयों के लिए भूखा रहता था। जाड़े के दिन आ गये थे। प्रेमचन्दजी को प्रेस की फिक्र थी—अपनी नहीं। जाड़े के कपड़े न थे, अपने हाथ में पैसे भी न थे क्या करें? शिवरानीदेवीजी ने कई बार आग्रह किया, कि गर्म सूट बनवा लो। पर कौन सुनता है? शिवरानीजी ने लिखा है—"मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जँचे और गरम कपड़े बनवाने के लिए अनुरोध-पूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपये दिये, परन्तु उन्होंने दोनों बार के रुपये मजदूरों को दे दिये। घर पर जब मैंने पूछा कि कपड़े कहाँ हैं?—तब आप हँस कर बोले, कैसे कपड़े? रुपये तो मैंने मजदूरों को दे दिये। शायद इन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज हो गयी, तब वे अपने सहज स्वर में बोले, रानी जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे, वह भूखा मरे और मैं गर्म सूट पहनूँ, यह शोभा नहीं देता।

प्रेमचन्दजी एक बार दिल्ली गये हुए थे। हिन्दी-साहित्य-सभा, दिल्ली ने उन्हें मान-पत्र देने का निश्चय किया। उसी रात को उन्हें लौट जाना था। सब तैयारियाँ करके सभा में सम्मिलित होने पहुँचे थे। मानपत्र दिया गया, पर वहाँ तो एक और घटना घटित हो गयी। एक पंजाबी उठे और कहने लगे, मेरी अरदास सुन ली जाय। मैं प्रेमचन्द को आज नहीं जाने दूँगा आग्रह इतना किया कि प्रेमचन्द उस दिन नहीं जा सके। उसने अपनी बात बतलायी कि वह क्यों इतना आग्रह कर रहा है। बात यह थी कि कई वर्ष पहले वह कमाने के विचार से पूरब की ओर गया था, वहाँ वह कुछ कमा न सका। हाँ, गँवा सब बैठा। हताश था। घूमते-घूमते स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ ह्वीलर की दूकान पर एक उर्दू पत्र के पन्ने उलटने लगा, तो प्रेमचन्दजी की एक कहानी नजर पड़ गई। रुपया देकर रिसाला खरीद लिया। वह कहानी पढ़ने लगा। कहानी थी "मन्त्र"। कहानी क्या पढ़ी, मन्त्र ही पढ़ लिया। निराशा के बादल दूर हो गये। हताश हृदय में नई उमंग पैदा हुई। वह आगे बढ़ने का पक्का इरादा करके लौटा और उसी दिन से उन्नत होता गया। तरक्की पाता गया। वह तभी से उस 'मन्त्र' के लेखक की तलाश में रहा है। आज पकड़ पाया है, आज तो कैसे भी न जाने देगा, वही हुआ।

उस कहानी ने उस पञ्जाबी को डूबने से उबार लिया। न जाने ऐसे कितनों को संकट के क्षणों पर विपन्न-मानस अवस्था में Psychological moments (मनोवैज्ञानिक क्षणों) पर उनकी कहानियों ने ऊपर उठाया है। उनके उपन्यासों ने जीवन का ढाँचा तैयार करने की प्रेरणा दी है।

न जाने कितने लेखक उनके ऋणी हैं, पं० पद्मसिंह शर्मा एक ऐसे सहृदय थे, जिन्होंने अपनी प्रेरणाओं से अनेकों को सजीव रखा। दूसरे प्रेमचन्द थे, जिन्होंने न जाने कितने मानी कलाकारों को वह बनने में सहायता पहुँचायी, जो वे आज हैं। प्रेमचन्द उन कलाकारों के अपने हो गये।

उनकी सादगी, उनकी सहानुभूति, उनकी घोर अहं-शून्यता, उनकी खुली ऊँची हँसी, उनका भोलापन—ऐसी सरल सात्विक रेखाओं से उनके व्यक्ति का चित्र बना है।

उन्होंने उपन्यास पढ़े; एक दो नहीं, बहुत से, दो सौ-ढाई सौ पृष्ठ वाले नहीं हजारों पृष्ठ वाले। आरम्भ में जो उपन्यास पढ़े, वे तिलस्म और प्रेम-व्यभिचार सम्बन्धी, सामंत और पूँजी के अनुजीवियों से सम्बन्ध रखने वाले थे। तेरह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने उर्दू के रतननाथ दर के बड़े-बड़े उपन्यास पढ़ डाले, रेनाल्ड के उपन्यासों से हरमों के गुप्त प्रणयों को झाँका। देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता और उसकी संतति भी पढ़ी। बंकिम के उपन्यासों का अनुवाद भी पढ़ डाला। इनको पढ़ते गये और सोचते गये कि वे प्रकाशित होते-होते समय के पीछे की चीजें होती जाती हैं, तब उन्हें रवीन्द्र हाथ पड़े। नवज्योत्स्ना उसमें दीखी। उनकी कहानियों का अनुवाद कर डाला और यहाँ से अपनी निजी रचनाओं की सृष्टि आरम्भ की। उर्दू के उपन्यासकारों ने उन्हें कथा-साहित्य का चस्का लगाया। रवीन्द्र ने उन्हें नवोन्मेष से परिपूर्ण किया, इनमें से अभी उन्हें अपनी कुंजी नहीं मिली थी।

१६०० के लगभग से प्रेमचन्द ने उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। उस समय से आगे होने वाली ऐतिहासिक

घटनाओं ने उनके जीवन को अछूता नहीं छोड़ा। कलाकार में अपनी कला तो मुक्त-धारा की भाँति बहती है, पर उस धारा के लिए जिस भूमि की आवश्यकता होती है, वह परिस्थितियों से बनती है और काल अपनी समस्याओं से उस भूमि का रंग-रूप निश्चय करता है। किसी भी प्रकार का कलाकार क्यों न हो, कलाकार न होकर ग्रन्थकार ही हो, यदि वह साहित्य की सृष्टि कर रहा है, विज्ञान का आबजेक्टिव अध्ययन नहीं कर रहा, तो परिस्थिति और काल से अछूता नहीं रह सकता। परिस्थिति काल से भिन्न बात नहीं। काल एक क्षण के लिए काम में लाकर कुछ स्थिर सा किया हुआ Static (स्थिति) रूप परिस्थिति कहलाता है। चलता हुआ परिस्थितियों को अपने में लपेटे एक विशद, भूत, वर्त्तमान और भावी का सुसङ्गठित चक्र काल कहलाता है, तो इनसे लेखक-कवि अछूता नहीं रह सकता। जैसे-जैसे काल चलता है, लेखक भी चलता है और उसमें पारस्परिक आदान-प्रदान रहता है। काल की वस्तु, परिस्थितियों का मसाला लेखक में विविध रूप धारण कर प्रतिफलित होता है। प्रेमचन्द के परिचय की इस झलक को पाकर उनकी महानता की स्रग्विणी भूमि, परिस्थिति और काल का भी कुछ ज्ञान पाना होगा। उसी में उनकी कला के प्रेरणा थी।

एक बात—यों तो हमें दार्शनिक होकर वेदान्त के फल तोड़ कर खाने नहीं। फिर यह कहने की आवश्यकता क्या कि यह सब पसारा एक 'अहं' का है—'एकमेव द्वितीयोनास्ति'। हम क्यों इसकी शरण जायँ—यानी देश, काल, परिस्थितियों को कुछ भी महत्व न देकर, सबको उस 'अहं' ब्रह्म का ही स्वरूप समझें, जिस भाँति परिस्थिति काल का ही अङ्ग है।

काल भी एक महाकाल की कलामात्र है, ब्रह्म का एक विकलन है। हमें तो निश्चय यही कहना है कि जो परिस्थिति है, काल का ही एक रूप है—पर हमें तो वह उससे अलग और उसकी सहायक लगती है। गुठली और छिलके के उत्पादन का एक क्रम है, पर वे अलग-अलग हैं—वैसे न हों, हमारे लिए तो हैं ही। उसी प्रकार साहित्य-धारा की भूमिका का कुछ अन्वेषण किया जाय तो अवांच्छनीय नहीं कहा जा सकता। यही भूमि तो प्रेमचन्द का क्रोड़ है, क्रोड़ में खेला हुआ बालक मनुष्य होकर क्रोड़ में समा नहीं सकता पर क्रोड़ से सर्वथा विच्छिन्न भी कहा जा सकता है क्या? यही कारण है कि प्रेमचन्द पर १६०० से पूर्व के पढ़े उपन्यास कहानियों का प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा। उनकी साहित्यिक मेधा ने सामयिक आन्दोलनों के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को हृदयंगम कर उसी को अपने मौलिक उपन्यासों और कहानियों में रूपान्तरित कर दिया। उनके उपन्यास और कहानियाँ हिन्दी की मौलिक कला का ऊँचा आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल

यदि कोई पूछे कि किसी एक ऐसे व्यक्ति का नाम बताइये जिसने हिन्दी के विचार-स्तर को एकदम ऊँचा उठा दिया हो, तो हिन्दी में केवल एक नाम सामने आयगा—पं० रामचन्द्र शुक्ल। पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रत्येक शब्द प्रकाश-पुञ्ज है; और वे हिन्दी के जिस युग में अवतीर्ण हुए उसमें तो उनके शब्दों ने कमाल ही कर दिया। शुक्लजी के समय से हिन्दी की समस्त पीढ़ी शुक्लजी की ही अनुयायिनी हो गयी है, इस बीसवीं सदी में

यह प्रतिष्ठा चाहे जिसे और आसानी से नहीं मिल सकती। यह प्रतिष्ठा शुक्लजी को इसलिए नहीं मिली कि वे अत्यन्त सौभाग्यशाली थे कि लोगों ने उनकी प्रशंसा करना शुरू कर दिया। यथार्थ में यह प्रतिष्ठा शुक्लजी ने अपनी योग्यता से कमायी थी। उन्होंने अपने अन्तर में ज्ञान-दीप प्रज्ज्वलित किया था, उन्होंने अपनी बुद्धि को तीव्र बनाया था और उससे मौलिक चिन्तन का काम लिया था। इसीलिए शुक्लजी के इस प्रभाव का रहस्य उनसे अन्तर्जगत में निहित है, बाह्य में नहीं।

उनके बाहरी जीवन का सूत्र मुख्यतः चार स्थानों से जुड़ा

हुआ है। एक 'अगोना', दूसरा राठ, तीसरा मिर्जापुर, चौथा काशी। अगोना में ये पैदा हुए थे, राठ में विद्यारम्भ हुआ, मिर्जापुर में शिक्षा प्राप्त की और काशी में साहित्यिक सेवा की।

इनके पिता का नाम पं० चन्द्रबली शुक्ल था। ये सुपरवाइजर कानूनगो थे। पं० रामचन्द्र शुक्लजी का जन्म १८८४ सन् में अगोना में हुआ। अगोना में नगर की महारानी ने इनके लिए मकान बनवा दिया था और गुज़ारे के लिए कुछ भूमि भी दे दी थी। यहाँ पं० रामचन्द्र शुक्ल के लगभग चार वर्ष व्यतीत हुए। इस समय के कौन से संस्कार शुक्लजी पर पड़े, कोई नहीं कह सकता। सन् १८८८ में शुक्लजी के पिताजी सुपरवाइजर कानूनगो होकर जिला हमीरपुर की 'राठ' तहसील में नियुक्त हुए। वहीं शुक्लजी, इनके सात वर्ष के बड़े भाई, इनकी माँ और दादी भी रहने लगीं। यहीं राठ में पं० गंगाप्रसाद दीक्षित नाम के पंडित ने इनका विद्यारम्भ संस्कार कराया। शुक्लजी बहुत कुशाग्र बुद्धि और महनती थे। यहाँ ये दो ही वर्ष में चौथे दर्जे में आ गये। उधर इनके पिताजी की बदली मिर्जापुर के लिए हो गयी। वे वहाँ सुपरवाइजर कानूनगो होकर गये। इसी अवसर पर शुक्लजी की माता की मृत्यु हो गयी। इस समय शुक्लजी नौ वर्ष के थे। माता के स्नेह का इस अवस्था में अभाव बहुत खटकता है। पर दैव के लिए क्या किया जाय ?

मिर्जापुर में ये जुबिली स्कूल में दाखिल हुए। यहाँ अँगरेजी पढ़ी और फारसी भी। इनके पिताजी यों तो ब्राह्मण थे, पर फारसी संस्कृत के प्रतीक थे। इनके सम्बन्ध में इन्हीं के नाती पं० केशवचन्द्र शुक्ल की यह सम्मति उल्लेखनीय है।

"ब्राह्मण होते हुए भी चाल-ढाल तथा वेश-भूषा तत्कालीन फारसी-शिक्षा-सम्पन्न किसी मौलवी से कम न थी। काली घनी दाढ़ी, गोल मोहरी के पायजामे, पट्टेदार बालों तथा अल्पका की शेरवानी ही तक बात न थी, उनकी जवान भी 'सर सैयद' की ज़बान थी तथा उनके विचार उस समय के फारसी पढ़े हुए 'शिष्ट' कहलाने वाले मुसलमानों से साधारण व्यवहार की बहुत-सी बातों में अधिकतर मिलते-जुलते थे। संस्कृत अथवा हिन्दी बेहूदा ज़बान थी। धोती पहन कर बाहर निकलना या नंगे सिर रहना जुर्म था।" अतः इन्हें यदि यह चाव था कि उनका लड़का रामचन्द्र फारसी पढ़े तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। पर शुक्लजी को तो हिन्दी से प्रेम था और हिन्दी-संस्कृत इन्हें प्रिय लगती थी। मिर्जापुर में ही इन्हें परमानन्द और रामानन्द जैसे मित्र मिले, जो चंदन लगाते थे और धोती पहनकर नंगे सिर रहते थे। शुक्ल जी ने भी इनके साथ पायजामा छोड़कर धोती पहनना आरम्भ किया। यह पोशाक शुक्ल जी को प्रिय थी, किन्तु इनके पिता जी नाराज होकर कहा करते—"हरामजादा उन बेहूदों के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो चला था कि प्रतिभाशाली शुक्लजी का मार्ग अपने पिताजी के मार्ग से भिन्न छँट रहा था। वे फारसी-संस्कृति के हामी थे; शुक्लजी में भारतीयता पल्लवित हो रही थीं। उनके लिए संस्कृत और हिन्दी बेहूदा ज़बान थी, शुक्ल जी को हिंदी ही प्रिय लग रही थीं। इस हिंदी-प्रेम में इनकी दादी का बड़ा योग था। इनकी दादी इन्हें रामायण तथा सूरसागर सुनाती थीं। वे रामभक्त थी और तुलसी तथा केशव के गीत गाया करती थीं। तुलसी के प्रति श्रद्धा का भाव शुक्ल जी के हृदय में

यहीं से अंकुरित हुआ होगा। किन्तु फारसी-संस्कृति के प्रतीक होते हुए भी इनके पिता जी को भी रामचरित मानस, रामचन्द्रिका तथा भारतेन्दुजी के नाटक पसन्द थे। शुक्लजी ने स्वयं लिखा है—"मेरे पिताजी, जो हिन्दी-कविता के बड़े प्रेमी थे, प्रायः रात को 'रामचरित-मानस', रामचन्द्रिका या भारतेन्दुजी के नाटक चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे।" इस प्रकार दादी और पिताजी दोनों के हार्दिक संस्कारों ने शुक्लजी के अन्तर्मन की सृष्टि की। फिर मिर्जापुर में तो बाबू बलभद्रसिंह डिप्टी कलक्टर का सानिध्य इन्हें मिला। शुक्लजी के पुत्र ने लिखा है—"बाबू बलभद्रसिंह आगरे के क्षत्रिय थे। पुरानी संस्कृति के वे केवल अनुमोदक-मात्र ही नहीं उसके अनन्य उपासक भी थे। उनके यहाँ सदा महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत, पुराण आदि का पाठ होता था। ३०–४० सुनने वाले व्यक्ति एकत्रित रहते थे।" दूसरे व्यक्ति जिनके सान्निध्य का प्रभाव पड़ा वह पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद थे। श्री केशवदास शुक्ल ने लिखा है :—

"पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उनके यहाँ आया करते थे।"

इन विवरणों से प्रतीत होता है कि शुक्लजी को यह भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत और भारतीय काव्य की मधुर ध्वनि से गूँजता हुआ वातावरण अत्यन्त रुचिकर और प्रिय लगता था। अपने घर में अनायास और अज्ञात ही तुलसी-केशव-हरिश्चन्द्र की रचना के भाव-विन्दुओं से जो बीज शुक्ल जी की प्रतिभा ने ग्रहण किया था, वह अपने में उसके उचित विकास का अवसर न पाकर, बाहर पड़ोस

से सामग्री, शक्ति और प्रेरणा ग्रहण कर अंकुरित होने लगा। पं० विंध्येश्वरीप्रसाद अपने विद्यार्थी वर्ग के साथ मिर्जापुर के निकट पर्वतीय प्रदेशों की वनश्री का आनन्द प्राप्त करने के लिए भ्रमणार्थ जाया करते थे। शुक्लजी भी इन पर्यटनों में जाते। एक ओर संस्कृत भाषा की माधुरी, दूसरी ओर प्राकृतिक शोभा की अभिरामता—पांडित्य और कला, संगीत और चित्र का मनोरम समन्वय हो चला और शुक्लजी के मन पर अनोखे संस्कार जमाने लगा।

मिर्जापुर में पंडित रामाशिव चौबे के संपर्क से शुक्लजी को अँग्रेजी के अध्ययन में विशेष रुचि उत्पन्न हुई। पं० वागेश्वरी जी ने हिन्दी का अध्ययन कराया। हिंदी के प्रति शुक्लजी को अनुराग मिर्जापुर में ही दृढ़ होगया—वैसे इसे स्वयं शुक्लजी ने हमें बताया है कि—

"ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया त्यों-त्यों हिन्दी के पुराने साहित्य और नये साहित्य का भेद भी समझ पड़ने लगा और नये की ओर झुकाव बढ़ता गया। नवीन साहित्य का प्रथम परिचय नाटकों और उपन्यासों के रूप में था, जो मुझे घर पर ही कुछ न कुछ मिल जाया करते थे। बात यह थी कि 'भारत जीवन' के स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के क्वीन्स कालेज के सहपाठियों में थे। इससे 'भारत जीवन प्रेस' की पुस्तकें मेरे यहाँ आया करती थीं। अब मेरे पिताजी उन पुस्तकों को छिपा कर रखने लगे, उन्हें डर था कि कहीं मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाय। मैं बिगड़ न जाऊँ, उन दिनों पं० केदारनाथ पाठक ने एक अच्छा हिन्दी पुस्तकालय मिर्जापुर में खोला था। मैं वहाँ से पुस्तकें लाकर पढ़ा करता था। अतः हिन्दी के

यहीं से अंकुरित हुआ होगा। किन्तु फारसी-संस्कृति के प्रतीक होते हुए भी इनके पिता जी को भी रामचरित मानस, रामचन्द्रिका तथा भारतेन्दुजी के नाटक पसन्द थे। शुक्लजी ने स्वयं लिखा है—"मेरे पिताजी, जो हिन्दी-कविता के बड़े प्रेमी थे, प्रायः रात को 'रामचरित-मानस', रामचन्द्रिका या भारतेन्दुजी के नाटक चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे।" इस प्रकार दादी और पिताजी दोनों के हार्दिक संस्कारों ने शुक्लजी के अन्तर्मन की सृष्टि की। फिर मिर्जापुर में तो बाबू बलभद्रसिंह डिप्टी कलक्टर का सान्निध्य इन्हें मिला। शुक्लजी के पुत्र ने लिखा है—"बाबू बलभद्रसिंह आगरे के क्षत्रिय थे। पुरानी संस्कृति के वे केवल अनुमोदक-मात्र ही नहीं उसके अनन्य उपासक भी थे। उनके यहाँ सदा महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत, पुराण आदि का पाठ होता था। ३०–४० सुनने वाले व्यक्ति एकत्रित रहते थे।" दूसरे व्यक्ति जिनके सान्निध्य का प्रभाव पड़ा वह पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद थे। श्री केशवदास शुक्ल ने लिखा है:—

"पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उनके यहाँ आया करते थे।"

इन विवरणों से प्रतीत होता है कि शुक्लजी को यह भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत और भारतीय काव्य की मधुर ध्वनि से गूँजता हुआ वातावरण अत्यन्त रुचिकर और प्रिय लगता था। अपने घर में अनायास और अज्ञात ही तुलसी-केशव-हरिश्चन्द्र की रचना के भाव-विन्दुओं से जो बीज शुक्ल जी की प्रतिभा ने ग्रहण किया था, वह अपने में उसके उचित विकास का अवसर न पाकर, बाहर पड़ोस

से सामग्री, शक्ति और प्रेरणा ग्रहण कर अंकुरित होने लगा। पं० विंध्येश्वरीप्रसाद अपने विद्यार्थी वर्ग के साथ मिर्जापुर के निकट पर्वतीय प्रदेशों की वनश्री का आनन्द प्राप्त करने के लिए भ्रमणार्थ जाया करते थे। शुक्लजी भी इन पर्यटनों में जाते। एक ओर संस्कृत भाषा की माधुरी, दूसरी ओर प्राकृतिक शोभा की अभिरामता—पांडित्य और कला, संगीत और चित्र का मनोरम समन्वय हो चला और शुक्लजी के मन पर अनोखे संस्कार जमाने लगा।

मिर्जापुर में पंडित रामाशिव चौबे के संपर्क से शुक्लजी को अँग्रेजी के अध्ययन में विशेष रुचि उत्पन्न हुई। पं० वागेश्वरी जी ने हिन्दी का अध्ययन कराया। हिंदी के प्रति शुक्लजी को अनुराग मिर्जापुर में ही दृढ़ होगया—वैसे इसे स्वयं शुक्लजी ने हमें बताया है कि—

"ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया त्यों-त्यों हिन्दी के पुराने साहित्य और नये साहित्य का भेद भी समझ पड़ने लगा और नये की ओर झुकाव बढ़ता गया। नवीन साहित्य का प्रथम परिचय नाटकों और उपन्यासों के रूप में था, जो मुझे घर पर ही कुछ न कुछ मिल जाया करते थे। बात यह थी कि 'भारत जीवन' के स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के क्वीन्स कालेज के सहपाठियों में थे। इससे 'भारत जीवन प्रेस' की पुस्तकें मेरे यहाँ आया करती थीं। अब मेरे पिताजी उन पुस्तकों को छिपा कर रखने लगे, उन्हें डर था कि कहीं मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाय। मैं बिगड़ न जाऊँ, उन दिनों पं० केदारनाथ पाठक ने एक अच्छा हिन्दी पुस्तकालय मिर्जापुर में खोला था। मैं वहाँ से पुस्तकें लाकर पढ़ा करता था। अतः हिन्दी के

आधुनिक साहित्य का स्वरूप अधिक विस्तृत होकर मन में बैठता गया। नाटक, उपन्यास के अतिरिक्त विविध विषयों की पुस्तकें और छोटे-बड़े लेख भी साहित्य की नई उठान के एक प्रधान अंग दिखाई पड़े। स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' गिरता पड़ता चला जाता था। चौधरी साहब की 'आनन्द कादम्बिनी' भी कभी-कभी निकल पड़ती थी। कुछ दिनों में काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' के प्रयत्नों की धूम सुनायी पड़ने लगी। एक ओर तो वह नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रवेश अधिकार के लिये आन्दोलन चलाती थी। दूसरी ओर हिन्दी साहित्य की पुष्टि और समृद्धि के लिये अनेक प्रकार के आयोजन करती थी। उपयोगी पुस्तकें निकालने के अतिरिक्त वह एक पत्रिका भी निकालती थी, जिसमें नवीन विषयों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता था।

जिन्हें अपने स्वरूप का संस्कार और उस पर ममता थी, जो अपनी परम्परागत भाषा और साहित्य से उस समय के शिक्षित कहलाने वाले वर्ग को दूर पड़ते देखकर मर्माहत थे, उन्हें यह सुनकर बहुत कुछ ढाढ़स होता था कि आधुनिक विचार धारा के साथ अपने साहित्य को बढ़ाने का प्रयत्न जारी है और बहुत से नवशिक्षित मैदान में आ गये हैं, १६-१७ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मुझे नवयुवक हिन्दी-प्रेमियों की एक खासी मंडली मिल गयी जिनमें श्री काशीप्रसाद जायसवाल, बा० भगवानदास हालना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० लक्ष्मीशंकर और उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नये-पुराने कवियों और लेखकों की चर्चा इस मंडली में हुआ करती थी।''

यथार्थतः शुक्लजी की प्रतिभा की रूप-रेखा मिर्जापुर में ही तय्यार होने लगी थी।

हाईस्कूल तक शुक्ल जी ने मिर्जापुर में पढ़ाई की। आगे शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रयाग की कायस्थ-पाठशाला में नाम लिखाया गया, किन्तु यह पढ़ाई का क्रम जारी न रह सका। पिता जी ने इन्हें वकालत पढ़ने का आदेश दिया। इसमें शुक्लजी की रुचि न थी, अतः वे इसमें अनुत्तीर्ण हुए और पढ़ाई छोड़ कर घर आ गये।

सन् १८९३ में इनके पिता जी ने दूसरा विवाह कर लिया। जब तक दादी जीवित थीं विमाता के कारण इन शुक्लजी तथा इनके भाइयों को कोई कष्ट नहीं हुआ। दादी की मृत्यु के उपरान्त गृह-कलह ने उग्ररूप धारण किया। इन तीनों भाइयों को विमाता के कारण कितने ही कष्ट उठाने पड़े। पढ़ाई-लिखाई में भी विघ्न पड़ने लगा। किन्तु धीरे-धीरे स्थिति सम हुई। ऐण्ट्रेन्स पास करके, प्रयाग में वकालत की परीक्षा में फेल होकर घर लौटे। इस बार मिर्जापुर में पं० बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' से शुक्ल जी की घनिष्ठता बढ़ी। 'प्रेमघन' की 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका की इस समय अत्यन्त प्रतिष्ठा थी। समालोचना में इस पत्रिका ने अच्छा मार्गदर्शन किया था। शुक्ल जी इस पत्रिका के लिए लेख लिखने लगे। चौधरी जी के इस सम्पर्क ने शुक्ल जी में लेखक बनने की धारणा बलवती कर दी। पं० रामगरीब चौबे के प्रभाव से इन्हें अंग्रेजी में जो रुचि हुई थी, उसका एक परिणाम तो यह हुआ कि इन्होंने दो अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद कर डाला। एक तो इनका अनुवाद था 'कल्पना का आनन्द' यह ऐडीसन के इमेजीनेशन नामक निबन्ध का

अनुवाद था। दूसरा अनुवाद था मेगास्थनीज़ की 'इण्डिया' नामक पुस्तक का, जिसका नाम शुक्ल जी ने रक्खा 'मेगास्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन'। मिर्जापुर के वातावरण और हिन्दी-प्रेम का जो आवश्यक परिणाम है वह हुआ। शुक्लजी में आत्मसम्मान और भारतीयता का भाव पैदा हो गया। ऐसे भावों वाला व्यक्ति क्या सरकारी नौकरी कर सकता है ? इन्हें सरकारी नौकरी से घृणा हो चली। अङ्गरेज लोग नवाबों की भाँति जीवन यापन करते थे, और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमान जनक व्यवहार करते थे। ऐसे अपमानजनक व्यवहार की एक प्रणाली निश्चित कर डाली गयी थी। भारतीयों की इस अपमानजनक स्थिति ने इन्हें एक लेख अँग्रेजी में लिखने के लिए विवश किया। यह लेख 'ह्वाट हैज़ इण्डिया टू डू" के शीर्षक से प्रयाग के 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में निकला। प्रयाग के 'इण्डियन पीपिल' नामक अंग्रेजी पत्र में हिन्दी लेखकों के कितने ही दूषणों की चर्चा करते हुए कई निबन्ध भी लिखे थे। इन लेखों से उस समय पत्रकार-जगत में काफी हलचल रही थी।

जीविका-साधन के लिए मिर्जापुर के मिशन स्कूल में मास्टर हो गये, वहाँ शायद ड्राइङ्ग मास्टर थे। १६०८ तक वहाँ अध्यापक रहे। तब काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहत् हिन्दी कोष का कार्य आरम्भ किया। शुक्ल जी इसमें पहले शब्द-संग्रह का कार्य करने के लिए नियुक्त किये गये, बाद में कोष के सहायक सम्पादक बना दिये गये। कोष समाप्त होजाने पर काशी विश्व विद्यालय में इन्हें निबन्ध की शिक्षा देने के लिए प्राध्यापक बनाया गया, और जब काशी विश्व विद्यालय में हिन्दी का एक विभाग स्थापित हो गया

तो ये नियमित प्राध्यापक नियुक्त हुए। डा० श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त ये हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हुए। २ फर्वरी सन् १९४१ को इनकी मृत्यु हुई, उस समय तक ये इसी पद पर सुशोभित थे।

शुक्ल जी जब तेरह वर्ष के ही थे तब 'हास्य विनोद' नाम की रचना 'नाटक' के रूप में इन्होंने की थी। यह स्वाभाविक था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के नाटकों के पढ़ने का यह प्रभाव तो पड़ना ही चाहिए था। इनकी दूसरी मौलिक रचना भी नाटक ही थी। यह 'पृथ्वीराज' नाटक था, जिसके दो अङ्क इन्होंने लिखे, और अधूरा ही छोड़ दिया।

नाटक के बाद कविता लिखने की ओर प्रवृत्ति हुई। १६ वर्ष की अवस्था में ही 'मनोहर छटा' शीर्षक कविता लिखी जो सरस्वती में प्रकाशित हुई। अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हुईं जैसे 'शिशिर-पथिक', 'वसन्त-पथिक', 'भारत और वसन्त', 'दुर्गावती' इत्यादि।

किन्तु इन्हें न तो कवि बनना था, न नाटककार। इन्हें तो आलोचक बनना था और उनका यह रूप काशी में ही, मुख्यतः विश्व विद्यालय में अध्यापन कराने के बहाने ही विकसित हुआ। तुलसी सूर के भ्रमर गीत और जायसी पर उनकी भूमिकाएँ 'काव्य में रहस्यवाद' पर पुस्तकाकार निबन्ध, अलंकार तथा काव्य-विषयों पर निबन्ध तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास आदि इसी काल की रचनाएँ हैं। मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी इसी समय लिखे गये।

इन गद्य-रचनाओं में शुक्ल जी की वास्तविक प्रतिभा सुरक्षित है, उन्होंने हिन्दी के विचार-स्तर को एक ऊँचे धरा-

तल पर प्रतिष्ठित कर दिया, आलोचना के मान को एक ऐसी विशिष्टता प्रदान की जिसके कारण वह अपनी निजी गरिमा से गौरवान्वित हो उठीं।

हिन्दी के लेखक और पाठकों को श्री रामचन्द्र शुक्ल अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा से युग-युग तक प्रकाश देते रहेंगे।